सहजानंद शास्त्रमाला

परीक्षामुखसूत्र प्रवचन

भाग 1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

[सहज]ानन्द शास्त्रमाला सर्वाधिकार सुरक्षित

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[१, २, ३, ४ भाग]

●

प्रवक्ता :
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

●

सम्पादक :
पं० देवचन्द जैन शास्त्री, सहारनपुर

●

प्रबन्ध-सम्पादक :
बैजनाथ जैन, सदस्य स० शा०
यादगार बड़तला, सहारनपुर

●

प्रकाशक :
मंत्री, सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

●

मुद्रक :
साहित्य प्रिंटिंग प्रेस, बाजार दीनानाथ, सहारनपुर

●

१९६८] [न्योछावर ४ रु०

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सहजानन्दशास्त्रमाला

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन १, २, ३, ४ भाग

[प्रथम भाग]

[प्रवक्ता — अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
श्रीमत् "सहजानन्द" महाराज]

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ।।

दार्शनिक युग - यह परीक्षामुखनामक न्यायका कुञ्जीरूप ग्रन्थ है। जिन दिनों न्यायशास्त्रका अधिक प्रचार था और ज्ञानप्रभावनाको ही एक समृद्धि और उन्नति समझते थे, जिस युगमें अकलङ्क समन्तभद्र जैसे तार्किक और नैयायिक विद्वान् साधु हुए थे; उन विद्वानों और साधु–संतोंका तो ज्ञानचर्चा ही मुख्य विषय था, किंतु साधारण जन भी ज्ञानचर्चासे सन्तुष्ट हुआ करते थे । बहुत जमाना गुजर चुका, जब वाद–विवाद व न्यायके आधारपर लोग अपने–अपने दर्शन और धर्मकी महिमा फैलाते थे। प्रभावना तो सच्ची वही है जिस प्रभावनामें लोगोंमें ज्ञान बढ़े। अपने चमत्कारों या अन्य किसी बड़े गाजे–बाजेसे, सङ्गीत समारोहसे कुछ उत्सव मनाया या रथादि निकाला, कितना ही कुछ किया किन्तु यदि ज्ञानप्रभावनाका कोई ठोस प्रोग्राम नहीं रहता और केवल जलूस निकाला, बोली हो गयी, गाजे–बाजे हो गए, तो इन सबके बाद यह तो बतावो कि उस धर्मके माननेवाले समाजमें और अन्य धर्मावलम्बियोंपर कौनसा प्रभाव पड़ा जिससे वे धर्मके प्रति अनुरागी बनें ? लोग भी इसी हो-हल्लाके अनुयायी होते हैं। इन बातोंमें कितना ही समय लगा दें, कितना ही धन खर्च कर दें, कितना ही परिश्रम उठा लें, उसे भक्तिके नामपर धर्मवाद कहेंगे, किन्तु ज्ञानसाधनके किसी ठोस प्रोग्रामके लिए कौन तो समय खर्च करता है, कौन द्रव्य खर्च करता है, किसके मनमें उत्सुकता होती है, ज्ञानसे रहित होकर कोई पुरुष क्या उन्नति कर सकता है अथवा मुक्ति पा सकता है ? समय था, अकलङ्कदेव, समन्तभद्राचार्य आदि का जिन दिनों ज्ञानप्रभावनाको ही धर्मकी प्रभावना मानी जाती थी।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रभावना अङ्ग—सम्यग्दर्शनमें प्रभावना नामका एक अङ्ग है जिसका लक्षण समन्तभद्राचार्यने किया है। अज्ञान अन्धकारको दूर करके जैन शासनका माहात्म्य प्रकट करना इसका नाम प्रभावना है। ज्ञानप्रभावना न करके ठाठके समारोह कर दिए जाँय उसमें यद्यपि लोग यह कह उठते हैं कि यह समाज बड़ा धनिक है, इनके समारोहमें चांदी सोनेका इतना सामान निकलता है, इनके मंदिरमें सोने चाँदीकी मूर्तियां होती हैं आदिक बातें लोग कहते हैं, पर इस प्रभावनासे समाजपर कोई ठोस असर नहीं होता बल्कि इस प्रभावनाको जान देनेसे उल्टा असर यह होता है कि अनेक चोर लोग चोरी करनेकी खोजमें रहते हैं। किसी विधिसे, किसी उपायसे इनके छत्र, चमर, सोनेका सामान हड़प कर लिया जाय। दूसरी बात यह होती है कि दूसरोंको ईर्ष्या हो जाती है अन्य मतवाले जलने लगते हैं, विरोध मानने लगते हैं। खैर, ठाठके समारोहकी बात भी चलती रहती तो कुछ हानि न थी, दिखावटका सामान रहे, कुछ भी रहे पर साथ ही साथ कुछ ज्ञानप्रभावना और जनसमुदायके प्रति उदारताका व्यवहार और चलता तो भी बात निभ जाती। लेकिन न तो कुछ उदारता प्रजाके सङ्कटोंका निवारण करनेके लिए न तो दिलमें उत्साह हो और न ज्ञानकी बात ही कुछ करते हो, तो ऐसी स्थितिमें बजाय प्रभावनाके उल्टा विरोध और ईर्ष्या मच जाती है।

सर्वसम्मत प्रामाणिकताका साधन—वह समय था ज्ञानप्रभावनाका जब समन्तभद्र, अकलङ्कदेव जैसे दिग्गज विद्वान् हुए। उन्होंने न्यायशास्त्रके अनेक ग्रन्थ रचे। न्यायशास्त्रमें सभी तत्त्वोंको सभी विषयोंको युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। न्यायशास्त्रमें आगमकी दुहाई देनेकी गुञ्जाइश नहीं है कि कोई कहने लगे कि हमारे शास्त्र में यह लिखा है, सो प्रमाण है, इसकी गुञ्जाइश नहीं है। क्योंकि दूसरोंको समझा रहे हैं, कोई कहे कि वाह, हमारे ग्रन्थमें तो यह लिखा है तो क्या वह सही माना जायगा? वे तो यही कहेंगे कि तुम्हारे ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं उनकी क्या दुहाई देते हो! तो आगमको बताकर न्यायशास्त्रमें किसीको मना लेना यह सम्भव नहीं है, यहां तो युक्तियां बतायी जायेंगी। दूसरोंके दर्शनमें दोष आते हैं उनको सिद्ध करना और अपने दर्शनमें एक भी दोष नहीं है उसको सिद्ध करना वे युक्तियां अन्य ग्रन्थोंमें अनेक जगह दिखाई गई हैं, पर उन युक्तियोंकी एक कुञ्जी जिस आधारसे हम उनका विस्तार बना सकें और अपना मंतव्य सिद्ध करनेमें सफल हो सकें, उनकी कुञ्जीरूप यह ग्रन्थ है 'परीक्षामुखसूत्र'। इसके रचयिता हैं श्री माणिक्यनंदी आचार्य।

विस्तृत विषयोंका सूत्रण—जैसे पहिले धवल, जयधवल, महाधवल आदि ग्रन्थ थे, जिनमें लोगोंको प्रवेश होना दुर्गम सा था। उन सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करके गोम्मटसार, लब्धिसार जैसे ग्रन्थ संक्षेपमें बनाये और इस ढङ्गसे बनाये कि उन सब वर्णनोंका कुञ्जीरूप व्याख्यान हो जाय। ऐसे ही समझिये कि न्यायशास्त्रोंमें और और अनेक नय वर्णनमें प्रमाणके ग्रन्थोंमें जो भी बात कही गई है वह सब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

संक्षेपरूपसे आ जाय, इसका प्रयत्न यह परीक्षामुखसूत्र है। यह परीक्षामुखसूत्र गोमटसार आदिक ग्रन्थोंसे भी बहुत संक्षिप्त है। इसमें विषय कुछ नहीं आया लेकिन सभी विषयोंको दर्शनोंको समझनेके लिए जो कुञ्जी हैं, युक्ति हैं उन्हें सूत्ररूपमें निबद्ध किया गया है।

सूत्रका स्वरूप सूत्र उसे कहते हैं जिसमें बहुत थोड़े तो अक्षर हों और संदेहरहित हों उसमें मन्तव्यका विवरण दिया हो, सारवान हो और जिसका प्रकाश बहुत अधिक फैलता हो, निर्दोष हो, ऐसी रचनाको सूत्र कहते हैं। न्यायके सूत्र, व्याकरणके सूत्र, अध्यात्मके सूत्र सभी विषयोंके सूत्र हो सकते हैं। सूत्रमें कमसे कम अक्षर हुआ करते हैं। सूत्रकार सूत्ररचना करते समय जितने कमसे कम शब्दोंमें अपना सूत्र बन सके वह यत्न करते हैं। कभी कोई सूत्र बना और थोड़ी ही देर बाद दो एक अक्षर कम हो सकते हों, इस तरह बन जाय तो उसमें वे उतनी खुशी मनाते हैं जितनी कि लोकमें लौकिक जनों द्वारा पुत्रोत्पत्तिके समय खुशी मनाई जाती है, जैसे गानेवाले लोग अपने बड़े–बड़े सङ्कटोंको गानेकी धुनमें निकाल देते हैं। कलाकार लोग अपनी कलाके गौरवसे बड़ी बड़ी विपदाओंको हँसते–हँसते झेल लेते हैं। ऐसे ही साहित्यकार लोग अपनी साहित्यरचनाकी धुनमें बड़े बड़े विवाद, बड़े बड़े सङ्कटोंको यों ही सह लेते हैं, झेल लेते हैं, उपेक्षा कर देते हैं। ज्ञानार्जन और ज्ञानप्रसारके समान और कोई निर्दोष सुखका साधन नहीं है। तो उन न्यायग्रन्थोंका संक्षेप करके कुञ्जीरूप यह परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ बनाया गया है। इसमें अलगसे कोई मङ्गलाचरण नहीं है, किन्तु इसमें जो उत्थानिकारूप श्लोक आया है वह श्लोक इतना गूढ़ है कि इसमें मङ्गलाचरण भी हो जाता है और आचार्यदेव क्या कहेंगे इस ग्रंथमें, उनके मन्तव्यका भी दिग्दर्शन हो जाता है।

साहित्यकारोंके सदाशयका बल– विद्वान् पुरुष जो अपनी रचना बनाते हैं, ज्ञानीजन जो स्वपरहितके लिए अपनी रचनाएँ करते हैं वे अपने सद्कार्योंके प्रति इतना विश्वास रखते हैं कि चाहे दुष्टजन उनके विरुद्ध कितने ही प्रोपोगंडा करें अथवा उनके कार्योंमें विघ्न डालें लेकिन वे उनकी परवाह नहीं रखते। जो दुर्जन हैं, ईर्ष्यालु हैं जो ऐसे साहित्यकारोंका, ग्रन्थकारोंका अनादर करते हैं, उनकी इस चेष्टासे वे भयभीत नहीं होते न अपने सङ्कल्प किये हुए कार्यसे हटते हैं। उनका उनके प्रति यह चिन्तन है कि तुमको यदि हमारे कार्यमें अनादर है तो तुम जहां रहते हो वहीं विराजे रहो, तुम्हारे लिए हमारा कोई उद्यम नहीं है। हम बुरा तो तब मानें जब हम तुम्हारे ही लिए काम कर रहे हों और तुम्हीं उल्टा हमारे लिए जाल बिछाते हो तो उसका खेद होगा, किन्तु जो मोही पुरुष हैं, ईर्ष्यालु हैं, अज्ञान अन्धकारसे दबे हुए हैं वे जहां रहते हैं वहीं ठहरे रहें सुखपूर्वक, उनके प्रति यह उद्यम नहीं किया जा रहा है। ग्रन्थकारोंकी अपने हृदयमें कैसी स्पष्ट सुलझन बन रही है इस सम्बन्धमें बताया जा रहा है। वे यह चिन्तन रखते हैं, अपने मनमें विश्वास रखते हैं कि हम यह सब रचना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ग्रन्थोंका निर्माण उनके लिए कर रहे हैं जो बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं, विनयशील हैं, संसारके सङ्कटोंसे छूटनेकी कामना करते हैं, जिनका गुणोंमें अनुराग है उनके लिए हमारा प्रयास है। जो गुणोंके बैरी हैं वे कितने ही विघ्न डालें तो उनके लिए हमारा प्रयास ही नहीं है।

महापुरुषोंकी द्वेषियोंके प्रति अक्षुब्धता— जैसे घरमें कोई परिजन किसीसे विरोध करते हैं तो उसे यह खेद होता है कि देखो हम सब कुछ इनके लिए ही करते हैं और ये ही घरके लोग हमारे विरुद्ध बोलते हैं, कोई गैर व्यक्ति इतना विरुद्ध बोले तो उससे इतना खेद नहीं माना जाता जितना कि घरके लोगोंके विरुद्ध बोलनेमें खेद माना जाता है। तो ग्रन्थकार अपने मनमें यह धारणा रखे हुए हैं कि जो गुणोंके अनुरागी पुरुष हैं, जिनकी बुद्धि निर्मल है ऐसे पुरुषोंके लिए हम यह ग्रन्थ-रचना करते हैं, जो दोषग्राही हैं, गुणोंके बैरी हैं, मोही हैं, वे यदि अनादर करते हैं तो करें, वे जहां हैं वहीं रहें और उनको यदि हमारी अवज्ञा करनेसे सुख मिलता है तो इसमें हम बड़े सुखी हैं क्योंकि हम उनके सुखके काम तो आये। जो दुष्ट लोग हमारी कृतिमें द्वेष कर करके खुश हो रहे हैं तो चलो, हम उनकी खुशीके काम तो आये ! इतनी समता रहती है महन्त पुरुषोंके चित्तमें कि वे क्षोभको प्राप्त नहीं होते। और ऐसे ही बड़े उच्च हृदयके लोग होते हैं जो ग्रन्थनिर्माण जैसे महान् कार्यमें अपनी प्रगति बनाये रहते हैं।

स्वपरोपकारी संतोंकी सहनशीलता—आप यों समझिये कि जब आज कल छोटे-छोटे निष्पक्ष ग्रन्थकारोंपर भी अनेक बाधायें आती हैं तो उन बड़े बड़े दिग्गज विद्वानोंपर न जाने क्या-क्या बाधायें आती होंगी, वे बाधायें तो बड़ी कठिन होती होंगी ? जैसे उदाहरणके लिए मान लीजिए समन्तभद्र, अकलङ्कदेव तथा अन्य अनेक आचार्योंपर जो बाधायें आयीं थीं उनमें जीवन-मरणकी बात थी। इतनी कठिन बाधावोंसे गुजरकर अपने किए हुए सङ्कल्पमें बढ़े-चढ़े रहना, यह तो बड़े साहसी पुरुषोंका काम होता है। जो बुद्धिमान् पुरुष होते है वे विरोधसे घबड़ाकर अपने किए हुए कार्यको छोड़ते नहीं हैं, बल्कि यों समझिये कि दुष्टजन जितना विरोध करें उससे उन्हें एक ऐसी शुद्ध स्पर्धा जगती है कि वे अपने किए हुए काममें और दृढ़ हो जाते हैं। विरोधसे तो विद्वान् लाभ उठाते हैं। जब तक विरोध नहीं होता तब तक कार्यमें सुगन्धि नहीं आती। विरोध तो महान् पुरुषोंके लिए आभूषण है। वे विरोधसे घबड़ाते नहीं हैं। ऐसे अनेक गम्भीर भावोंसे सहित ग्रन्थकार अपनी ग्रन्थ-रचनाका आरम्भ किया करते हैं।

कर्तव्यके दृढ सङ्कल्पकी प्रकृति—महन्त पुरुषोंकी यह भी एक प्रकृति होती है कि कार्यको बहुत सोच विचारकर उसका मंथन करके आरम्भ करते हैं, क्योंकि ये जानते हैं कि किसी भी कार्यका आरम्भ करके उसे छोड़ना उचित नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उसे अपने मंतव्यके अनुसार पूर्ण करदेना ही उचित है। कार्य आरम्भ करके उसको पूरा न कर सके, उससे अच्छा तो यह है कि कार्यको शुरू न करे, किन्तु कार्यको शुरू करके फिर उसे पूर्ण करदेना यह महापुरुषोंका कार्य होता है। यह प्रकृति गृहस्थ हों महापुरुष उनके भी रहती है, साधु-संत हों महापुरुष उनके भी रहती है। प्रकृति सब की एक शैलीकी होती है जिनका होनहार भला होता है।

कर्तव्यक्षमता—गृहस्थावस्थामें रहकर गृहस्थधर्मको जो सही तौरसे नहीं निभा सकता उससे क्या यह आशा की जा सकती है कि साधु होनेपर वह साधुधर्मको निभा सकेगा। जिसमें जिस जातिकी प्रकृति होती है उसका उत्तरोत्तर विलास बढ़ता है। कहते हैं कि पूतके लक्षण पालनेमें प्रकट हो जाते हैं। तभी तो कोई पुरुष जो गृहस्थधर्मको न निभा सकनेके कारण अथवा आजीविकाकी असुविधाके कारण साधु बन जाते हैं, पहले तो रसोई बनाते थे अथवा बैलगाड़ी हाँकते थे, साधु-संतोंके आराम और आदरको देखकर जिनकी यह इच्छा हो जाती है कि हम भी साधु बन जायें तो आजीविका अच्छी चलेगी और आदर भी होगा। और, ऐसे साधु भी कोई कोई मिल जाते हैं कि जिनकी यह इच्छा होती है कि हमारे साथ यदि बहुत साधु रहें तो हमारी बहुत प्रभावना बनेगी, सो मना–मनाकर साधु बनाते हैं। बन जावो साधु, क्या कठिन है, हम सब सम्हाल लेंगे! इस प्रकारसे जो साधु बन जायें वे साधुधर्मको नहीं निभा सकते। साधुकी साधुता ही वह क्या जिस साधुको देखकर प्रायः साधारणजन प्रभावित न हो सके। तो गृहस्थधर्म जिनसे नहीं सध सकता, घरमें जिनसे बात नहीं बन सकती उनसे साधुभेष रखनेपर भी बात बन जायगी यह कुछ कठिन सी बात है। किसी बिरलेके हो जाय यह बात अलग है।

आरम्भसे ही शुद्ध संस्कारकी आवश्यकता—जो बचपनसे प्रकृति है अथवा जन्मसे आदत है उस आदतके बदलनेमें बड़े संस्कार जमाने पड़ते हैं तब भी सफल नहीं हो पाते हैं। जैसे कभी कभी अनेक जगह यह आश्चर्य होता है कि साधु जनोंको तो बताया है कि वे हितमित प्रिय वचन बोलते हैं मगर अमुक साधुसे तो हमें कोई हितकारी वचन नहीं मिले और परिमित वचन बोलनेकी भी उनमें प्रकृति नहीं है और प्रिय वचन बोलनेका तो कुछ सवाल ही नहीं। जितनी पीड़ा लट्ठ सहकर भी नहीं होती उतनी पीड़ा उनके वचन सुनकर होती है। तो यह क्या हो रहा है, अरे हो क्या रहा है। साधु होनेसे पहिले भी उनकी ऐसी ही प्रकृति थी। गृहस्थधर्ममें रहकर भी अपने संस्कारोंको न सुधारा था। तो गृहस्थधर्ममें बहुत बड़ी जिम्मेदारी है अपने को उन्नतिके मार्गमें लगानेके लिए कोई बिल्कुल ही शुद्ध संस्कार बनाए और साधुभेष धारण करले तो वहां फिर प्रायः विपदावोंका काम नहीं रहता। जहाँ आन्तरिक प्रकृति तो अज्ञानकी हो व हाथ जुड़ना, भक्ति होना, यही यही रहता हो तब आदत सुधारका अवसर नहीं मिलता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सहिष्णु, क्षम एवं धीर पुरुषोंका सत् उपक्रम— गृहस्थोंको तो पचासों विपदायें हैं। और इसीसे प्रेक्टीकल शिक्षा भी मिलती रहती है —देखो दूसरोंके अपराध माफ करो तब सही काम बनेगा, किसी ने काम बिगाड़ दिया तो उसको माफ कर दो; जरा जरासी बातमें अधिक तनाव न बने नहीं तो काम न बनेगा, ये सब शिक्षायें गृहस्थ सीखते रहते हैं और गृहस्थ योग्य बन जाते हैं, पर जिन्होंने अपने गृहवासके समयमें कुछ संस्कार नहीं सुधारा, अप्रिय व अहित बोली ही बनी रही, स्वार्थ, खुदगर्जी बनी रही तो साधुभेष रखनेके बाद तो अब कोई विपदाका काम ही नहीं सो गौरववश और भी असद्व्यवहार बन जाता है। गृहस्थ धर्म भी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारीका धर्म है। महापुरुष चाहे गृहस्थ हों चाहे साधुसंत हों, उनकी प्रकृतिमें गम्भीरता, धीरता, उदारता सब कुछ बसी रहती है। ऐसे धीर गम्भीर पूज्य श्री माणिक्यनन्दी आचार्य इस परीक्षामुखसूत्र नामक ग्रन्थको प्रारम्भ करेंगे।

ग्रन्थरचनाका कारण माणिक्यनन्दी आचार्य इस परीक्षामुखसूत्रके कर्ता हैं। इसके पहिलेके अकलंकदेव आदिक दिग्गज न्यायकुशल साधुसंतोंके न्यायग्रन्थ है उन ग्रन्थोंका अर्थ गूढ़ है। और जो साधारणजन हैं उनके द्वारा नही जाना जा सकता है। तो उन ग्रन्थोंमें व्युत्पत्ति बने, लोगोंका प्रवेश हो इस प्रयोजनके लिए उन न्याय ग्रन्थोंके प्रयोजनका संकलन और उनकी कुञ्जियाँ बनाकर माणिक्यनन्दी आचार्यने यह परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ बनाया है। जो लोग न्यायशास्त्रोंके परिज्ञानके इच्छुक हैं उनके अनुग्रह करनेकी भावनासे प्रेरित होकर इस प्रकारसे सूत्रोंकी रचना की है, जो क्रमशः हैं और उन न्याय ग्रंथोंमें प्रवेश करानेमें समर्थ हैं।

सूत्ररचनाके आद्य श्लोकमें अनेक ज्ञातव्य रहस्य- इस सूत्र रचनासे पहिले यह एक श्लोक आया है जिस श्लोकमें अनेक बातें ध्वनित होती हैं। प्रथम तो यह श्लोक प्रभुके गुण स्तवनरूप भी है, दूसरे इस श्लोकसे यह भी झलकता है कि इस रचनाका सम्बन्ध और अभिधेय सम्यक् है। तीसरी बात यह है कि यह रचना बिना प्रयोजन नहीं की जा रही है। इससे किसी प्रयोजनकी सिद्धि है। चौथी बात इसमें यह प्रकट है कि इसमें अनिष्ट प्रयोजन न होगा। जो प्रयोजन होगा वह हितकारी ही होगा। पांचवी बात यह झलकेगी कि जो प्रयोजन विचारा है उस प्रयोजनकी सिद्धि अशक्य नहीं है किन्तु साधा जा सकता है ऐसे अनेक भावोंसे गर्भित यह श्लोक इस ग्रन्थके आदिमें कहा जा रहा है।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥ १॥

श्लोकका प्रकट अर्थ इस श्लोकका सीधा अर्थ तो यह है कि प्रमाणसे अर्थ की संसिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे उससे उल्टा होता है अर्थात् अर्थकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सिद्धि नहीं होती है। इस कारण लघुबुद्धिजनोंके हितके लिए सिद्ध और संक्षेपमें प्रमाण तथा प्रमाणाभासका लक्षण कहेंगे। इन पदोंका स्पष्ट अर्थ इतना है जिसके सीधे विवरणको यों समझिये कि जो सम्यग्ज्ञान है वह प्रमाण कहलाता है और उस प्रमाण से जो हमारा इष्ट प्रयोजन है उसकी सिद्धि होती है। इष्ट प्रयोजन क्या होता है ? अज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, तो त्यागने योग्य हो उसे छोड़ दिया जाय, जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण किया जाय, जो उपेक्षा करनेके योग्य हो उससे उपेक्षा की जाय। ज्ञानसे ये ही प्रयोजन सधते हैं। जो ज्ञान प्रमाणीक नहीं हैं, सच्चे नहीं हैं, प्रभाणाभास हैं, झूठे हैं उनसे उल्टी बात सिद्ध होती है, अर्थात् प्रयोजनकी सिद्धि न हुए बिना अर्थकी सिद्धि सबको इष्ट है और अनर्थ से बचना सबको इष्ट है, इस कारण से प्रमाण और प्रमाणाभासका लक्ष्ण कहा जायगा।

आद्य सूचनात्मक श्लोकमें मंगलाचरणकी गर्भितता—इस श्लोकमें मंगलाचरण भी गर्भित है, यह कैसे निकला सो सुनिये। कहा यह गया है कि प्रमाण से अर्थकी सिद्धि होती है। तो प्रमाणका अर्थ क्या है। इसमें तीन शब्द हैं प्र मा और आण। प्र का अर्थ है प्रकृष्ट, माका अर्थ है अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी और आण का अर्थ है दिव्यध्वनि। प्रकृष्ट है जिसकी अन्तरङ्ग वहिरंग लक्ष्मी और दिव्यध्वनि, उसका नाम है प्रमाण। प्रमाण शब्दसे अरहंतका बोध होता है। अंतरंग लक्ष्मी है ज्ञान दर्शन सुख आनन्द। यह प्रकृष्ट है अरहंत देवके, और उनकी दिव्यध्वनि खिरती है वह भी प्रकृष्ट है जो अनन्तचतुष्टयसे सम्पन्न हों, जिनकी दिव्यध्वनिसे भव्य जीवोंको धर्मका प्रकाश मिलता हो उन्हें कहते हैं प्रमाण, तो प्रमाणका अर्थ हुआ अरहंतदेव। उनसे अर्थकी संसिद्धि होती है। जो बात चाही जाय उसे अर्थ कहते हैं, समस्त जीवोंको निराकुलता अभीष्ट है, वे परम शान्ति चाहते हैं। तो उस शान्तिकी शुद्ध प्राप्ति अरहंतदेवसे होती है, अर्थात् अरहंतकी दिव्यध्वनिसे द्वादशाङ्गका विस्तार हुआ और उस परमागमसे अनेक ग्रंन्थोंकी रचना हुई। हम आज उन ग्रंथोंका अध्ययन करके ज्ञानप्रकाश पाते हैं और इस तरह मोक्ष पथमें चलते हैं। यह एक बड़ा उपकार है। तो हमारे मोक्षमार्गकी जो सिद्धि हो रही है, होगी उसका मूल निमित्त कारण अरहंतका नाम जो प्रमाण है। प्रमाणसे मोक्ष मार्गकी सिद्धि होती है। जो प्रमाण नहीं है अर्थात् ज्ञान लक्ष्मीके और प्रकृष्ट दिव्योपदेशके जो मूल नहीं हैं और अपनेको देव सिद्ध करायें, मनायें वे सब प्रमाणाभास हैं, याने कुदेव हैं। जो न वीतराग हैं, न सर्वज्ञ हैं, न हितमें लगे हैं, उनसे दूसरोंको हितका उपदेश मिलता है, ऐसे होकर भी जो अपनी देवके रूपमें प्रसिद्धि चाहें, जिनकी देवोंके रूपमें प्रसिद्धि है वे सब हैं कुदेव, प्रमाणाभाससे शान्तिकी सिद्धि नहीं होती; प्रत्युत सांसारिक चतुर्गतियोंमें भ्रमणरूप अनर्थकी ही प्राप्ति होती है।

गुणवर्णनमें स्तवन—यहाँ स्तवनके रूपमें इतनी बात कही गई है कि वीतराग सर्वज्ञदेवसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। और, जो कुदेव हैं उनसे मोक्षमार्ग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

की सिद्धि नहीं होती। इतना कहनेसे मङ्गलाचरण यों ही आ गया कि वचनोंसे भगवानके गुणोंका थोड़ा भी वर्णन करना स्तुति कहलाया करती है। यों तो भगवान अपरिमित गुणोंके समुद्र हैं, उनका स्तवन कौन कर सकता है? जो कोई भी स्तवन करेगा वह गुणोंके केवल अंशका स्तवन कर सकता है, यों प्रभुके गुणोंका थोड़ा भी स्तवन करना यह वचनोंसे स्तुति कहलाती है। फिर इसके साथ-साथ मनसे और कायसे भी तो स्तुति है। कोई वचनों से स्तुति नहीं करता, किन्तु मनसे और कायसे प्रणाम करके यदि ग्रन्थरचनाको शुरू करदे तो उसके भावमें तो मङ्गलाचरण हो ही गया। यों भी नमस्कार होता है और फिर इस श्लोकमें वचनसे नमस्कार स्तवन भी सिद्ध हो गया।

मंगलाचरणके प्रकरणमें प्रमाण शब्दके अर्थका विवरण– प्रभु अरहंत देवकी अन्तरङ्ग लक्ष्मी है ज्ञान और बहिरङ्ग लक्ष्मी है समवशरणकी रचना। ऐसी लक्ष्मी अन्यमें नहीं पायी जा सकती है। जिसका ज्ञान निर्लेप और केवल हो गया है, जिसके साथ अन्य किसी परभावका लेप नहीं है ऐसा केवलज्ञान निर्दोष और असीम प्रकाशवाला होता है, उस ज्ञानसे वे अन्तरङ्ग लक्ष्मीके स्वामी कहे गए हैं और बरिरङ्ग में भी देखो कैसे विशाल समवशरणकी रचना होती है। इंद्र जिनकी सेवामें सदा तैयार खड़े रहते हैं, इससे और विशेष बहिरङ्ग लक्ष्मी किसके प्राप्त होती है? तो अन्तरङ्ग लक्ष्मी भी उत्कृष्ट अरहंतदेवके है और बहिरङ्ग लक्ष्मी भी उत्कृष्ट अरहंतदेव के है और दिव्योपदेश भी अरहत भगवानके उत्कृष्ट है। ये बातें अन्य काल्पनिक देवों में नहीं पायीं जाती हैं। तो जिनके प्रकृष्ट मा और आण हो अर्थात् अन्तरङ्ग लक्ष्मी ज्ञान व वहिरङ्ग लक्ष्मी समवशरण प्रातिहार्य आदिक और दिव्यध्वनि जिनके उत्कृष्ट हो उन्हें प्रमाण कहते हैं। वे हुये भगवान सर्वज्ञदेव।

मंगलाचरणके प्रसंगमें श्लोकके उत्तरार्द्धका भाव जिन्होंने समस्त द्रव्योंको स्पष्ट जाना है और जिनके वचन न तो प्रत्यक्षसे विरोध खाते हैं, न आगमसे ऐसे जिनके निर्दोष वचन हैं उनसे ही जीवोंके हितकी सिद्धि होती है, किन्तु जो प्रमाणाभास हैं कुदेव आदिक उनसे प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती। इस कारणसे प्रमाण और प्रमाणाभासका भी लक्षण कहा जायगा। इस परीक्षामुखसूत्रमें एक जगह अतिन्द्रियज्ञानका लक्षण बांधा है। जहां समस्त आवरण नष्ट हो गए ऐसा विशुद्ध ज्ञान अतीन्द्रिय है उसे केवलज्ञान कहते हैं। बस जहां केवलज्ञानकी व्याख्या आयी भगवान का स्वरूप आ गया; भगवान केवल ज्ञानस्वरूप हैं, जो केवलज्ञानका स्वरूप है वही भगवानका स्वरूप है, यों प्रमाणका असाधारण स्वरूप कहा जायगा और प्रमाणाभास ज्ञानाभासका भी वर्णन आ गया। तो यों प्रभुके गुणोंका वर्णन हो गया, यही **स्तुति है और यही मंगलाचरण है।**

रचनामें प्रयोजन और सम्बन्ध व अभिधेय– दूसरी बात प्रयोजनकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कही जा रही है कोई भी पुरुष बिना प्रयोजनके कोई कार्य नहीं करता। क्या किसी को यों देखा है कि कौवोंके दांतोंकी परीक्षा करता रहे? जिस बातसे कोई प्रयोजन नहीं वैसा कोई प्रयत्न नहीं करता। तो इस ग्रंथका कोई प्रयोजन भी है क्या? तो इसी ग्रंथमें विस्तारपूर्वक प्रयोजनको बतावेंगे। तीसरी बात यह है कि जिस कथनमें सम्बन्ध नहीं होता और अभिधेय नहीं होता उसे कोई बोले तो उसे लोग पागलके वचन कहते हैं। जैसे कोई बोलने लगे ६ पेड़ा, १० लड्डू, ५० पूड़ी, ९ खम्भे, ४ दरी, यों जो चाहे अटपट बोलने लगे, जिसका कोई प्रकरण नहीं है, सम्बन्ध नहीं है, न कोई बात है, तो ऐसे ही तो पागल लोग बोला करते हैं। तो इस ग्रंथमें यह भी बताना चाहिए कि इस ग्रंथका सम्बन्ध क्या है और इसमें क्या कहा जायगा? जिसमें सम्बन्ध सिद्ध नहीं है उसको सुननेके लिए बुद्धिमान लोग प्रयत्न नहीं करते। ऐसे ही जब तक प्रयोजन न मालूम पड़े तब तक कौन विवेकी तुम्हारी बातको सुनेगा?

अनिष्टप्रयोजनपरिहार व शक्यानुष्ठानके वचनकी उपादेयता—इसी तरह अनिष्ट प्रयोजन भी न होना चाहिए। अनिष्ट बातें कोई उपदेशमें दे, उसे कौन सुनेगा? जैसे कोई माताके विवाहका उपदेश करने लगे तो कोई भली बात है क्या? अनिष्ट प्रयोजन है तो उसे कौन सुनेगा? तो यह भी तो मालूम पड़ना चाहिए कि यह ग्रन्थ जो बनाया जा रहा है इसमें कुछ हमारा इष्ट प्रयोजन भी निकलेगा कि नहीं? और मान लो प्रयोजन भी निकले और प्रयोजन बता दिया ऐसा जो किया ही न जा सके। कोई बीमार हो और उससे कह दिया जाय कि देखो तुम अमुक सर्पके फनपर जो धूल वगैरह लगी हो उसे पोंछकर लगा लो तो ठीक हो जाओगे! तो क्या ऐसा किया जा सकता है? अरे, प्रयोजन हो तो किया जा सके।

सर्व कार्योंकी सचातुष्कता— प्रयोजन हो, सम्बन्ध और अभिधेय हो, अनिष्ट प्रयोजन न हो और किया जा सकने वाला हो, ये चार बातें जहां हों वह बात आदरके योग्य है। इस बातको सभी दर्शन कहते हैं। व्यवहारमें भी ये ४ बातें रहा करती हैं। चाहे धर्म चर्चा करें, चाहे व्यापारकी बातें करें। व्यापारकी बातोंमें संबंध तो होना चाहिए, इष्टप्रयोजन हो और किया जा सके, वही बात तो व्यापारमें की जाती है। सम्बन्ध कुछ न हो, प्रयोजन भी न बनाया हो, कुछ आधार न बनाया हो तो ऐसा कोई व्यापार होता है क्या? व्यापारका सम्बन्ध अनेकों पीढ़ियों तक वही चलता रहता है। और, आजसे अनेक पीढ़ी पहलेका नाम चला आया हो तो व्यापारी लोग उस नामको रखते हैं। वे यह नहीं सोचते कि वे तो अब जिन्दा नहीं रहे, उनका नाम अब क्यों चले? तो इतना पुष्ट सम्बन्ध होता है व्यापार का। प्रयोजन भी उनका है कि आय हो, कोई प्रयोजन कुछ न विचारे और मंद दिमाग वाले अथवा दिमाग काम न करने वाले बच्चोंकी तरह कोई कुछ भी अपनी प्रवृत्ति करे तो उससे लाभ भी क्या होगा?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ग्रन्थका समुचित सम्बन्ध—इस ग्रन्थमें यह बतलाया है कि सम्बन्ध क्या है ? इसका सम्बन्ध यह है कि इसमें सच्चे ज्ञान और झूठे ज्ञानका लक्षण बताना है। अभिधेय इतना है। जब हम किसी तत्वकी परीक्षा करने चलें तो इन दो बातोंसे सम्बन्ध रहता है कि इस मामलेमें सच्ची बात क्या है ? सही ज्ञान क्या है ? उस सही ज्ञानका आदर रखना है और यह बात झूठ है सो इसकी अनास्था करना है। तो सत्यज्ञान और झूठा ज्ञान इनके पहिचाने बिना तत्त्वकी सिद्धि तो नहीं होती है। बहुत बड़ा सम्बन्ध है इस ग्रन्थका। परीक्षामुखसूत्र एक ऐसा कुञ्जीरूप ग्रन्थ है कि धर्मके प्रसङ्गमें भी सच्चाई और झूठकी परीक्षा करा देता है और व्यावहारिक बातोंमें भी सत्य और झूठकी परीक्षा करा देता है। यह क्या साधारण सम्बन्ध है ? इसके बिना तो बुद्धिका विस्तार ही नहीं हो सकता है। और सम्बन्ध इतना यह स्पष्ट है कि जो शब्द होंगे वे बात बतावेंगे और उनसे कौन सा तत्त्व जाना गया इस प्रकार प्रतिपादक प्रतिपाद्य सम्बन्ध है। यह ग्रन्थ उन्मत्त पुरुषोंकी तरह नहीं बनाया जा रहा है। इसमें सम्बन्ध है, जो कहा जायगा उसका प्रकृष्ट विवेचन है। तो यह ग्रन्थ बुद्धिमान पुरुषोंके सुनने और मनन करने योग्य है।

परीक्षापद्धतिका महत्त्व—भैया ! परीक्षाकी पद्धतिका कितना बड़ा महत्त्व होता है। जैसे सोना कसनेवाली परीक्षाशिला होती है तो उसका महत्त्व उस कसौटीसे है उसके रूप और आकारसे नहीं है। कोई कहे कि वाह ! इससे भी सुन्दर कोई शिला रख लें, यह तो छोटी शिला है, कोई बड़ी सी शिला रख लें तो बड़ी अच्छी सोनेकी परीक्षा हो जायगी, तो उसका यह सोचना मिथ्या है। थर्मामीटर बुखार नापनेके काम आता है। कोई कहे कि यह तो बहुत छोटा है, एक बिजलीका डंडा लगा दें तो ठीक रहेगा, छोटी मोटी चीजसे क्या फायदा ? तो उसका यह सोचना मिथ्या है, क्योंकि उस बिजलीके बडे भारी डंडेसे बुखारकी परीक्षा तो न हो जायगी। तो उसका महत्त्व परीक्षासे है। यह परीक्षामुखसूत्र ज्ञानकी परीक्षा बतावेगा कि यह ज्ञान सही है, इसमें अमुक दोष नहीं है, अमुक गुण है, इसलिए यह यथार्थ ज्ञान है और यह ज्ञान झूठा है, इसमें इतने दोष हैं, यह यथार्थ ज्ञान नहीं है। तो ज्ञानकी परीक्षा करा देनेवाले इस ग्रन्थका बहुत बड़ा महत्त्व है। यों समझिये कि न्यायशास्त्रमें और प्रतिभाके विकासमें ऐसे ग्रन्थके समझे बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तो इस ग्रन्थमें सम्बन्ध और अभिधेय बराबर ठीक है।

ग्रन्थरचनामें प्रयोजन व शक्यानुष्ठानका दर्शन—इस ग्रन्थरचनाका प्रयोजन भी यही है सही ज्ञानकी परीक्षा करना आ जाय और उस परीक्षित सही ज्ञान से हम अपने शान्ति मार्गका निर्णय बना लें, यह है इसका प्रयोजन। प्रयोजन भी इस ग्रन्थका समीचीन है और यह किया भी जा सकता है। कोई अशक्यानुष्ठान नहीं है कि किया न जा सकता हो। जिस बुद्धिमें इतने इतने बड़े व्यापार करनेकी हिम्मत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और बड़े बड़े देशोंकी व्यवस्था बनानेकी शक्ति है उस बुद्धिमें क्या इतनी शक्ति नहीं है कि हम अपना सही स्वरूप जान लें और उसी स्वरूपके ज्ञाता रह सकें ? सामर्थ्य तो सब है पर करनेकी बात है। जिसकी दृष्टि विपरीत है उसके लिए धर्म पहाड़ जैसा लगता है और जिसकी दृष्टि सुलझी हुई है उसके लिए धर्म बिल्कुल सरल है। लो यह तो मैं धर्ममूर्ति हूँ, कुछ ज्ञान बनाकर विपरीत अभिप्रायोंको दूर करें तो धर्मका मार्ग मिल सकता है और उससे शान्तिका लाभ होता है। यह क्या किया नहीं जा सकता ? जैसे बड़े बड़े योगिराजोंके गुणोंका स्तवन करते हैं – कहते हैं कि धन्य हैं वे व साधु, जो कुछ वे कर गए हम लोग वैसा नहीं कर सकते। अगर कर नहीं सकते तो फिर उस कामकी चर्चा ही क्या करें। भगवानका हम स्तवन करते हैं– प्रभु आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं ! अरे, स्तवन करनेवाले भक्त जीव ! यह तो बता कि तुझमें यह भी भाव पड़ा है कि मैं भी प्रभु जैसा हो सकता हूँ ! यदि यह भाव पड़ा है तब तो तेरी प्रभुभक्ति सच्ची है, यदि यह भाव तुझमें नहीं पड़ा है तो तू ऐसा बन ही नहीं सकता, ऐसा परिणाम है तो उस स्तवनसे लाभ क्या है ? हम जिसरूप कभी नहीं बन सकते उसकी बातसे क्या लाभ है ? तो जो कुछ इस ग्रन्थमें कहा जायगा और जो इसकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त होती है वे सब बातें हम कर सकते हैं।

स्वहितका सुगम साधन स्वहित करनेके लिए एक ज्ञानकी दृष्टि ही तो दृढ चाहिए। एक विचारशुद्धि ही तो चाहिए। वह ज्ञान निर्दोष मेरे निरन्तर बना रहे, बस यही आत्मलाभ है, यह क्या किया नहीं जा सकता ? बल्कि लोग मोहवश जो कुछ करते हैं या जिसके करनेका उत्साह रखते हैं वह तो सब असक्य है और अपना धर्म शक्य है। बड़े बड़े महल बनवाना, बड़े आयके साधन बनाना ये सब अशक्य हैं। आपकी आत्मा इन्हें नहीं करती। हो गया अपने आप। उदय था अनुकूल मिल गया, पर आत्मा अपने परिणाम करके कोई चीजमें परिणमन बना दे ऐसा तो नहीं होता। धर्म करना सक्य है और जो ज्ञान इस ग्रंथमें बताया जायगा उस ज्ञानका बना लेना सक्य है। तो इस ग्रंथमें धम्बन्ध भी है और वह सब किया जा सकता है, इस कारण हे श्रोता जनो ! अपनी इष्ट प्राप्तिका उपाय जानकर इस ग्रंथमें जो वक्तव्य आयगा उसका ध्यानपूर्वक श्रवण करें और मनन करके उसकी परीक्षाका मादा बना लें, परीक्षा करनेकी सही कुञ्जी प्राप्त कर लें फिर तो सब ज्ञान करना बहुत आसान हो जायगा। जब हम यह ज्ञान सही है, यह ज्ञान झूठा है इसकी परीक्षा करनेमें निपुण हो जायेंगे तो फिर ज्ञानमें बढ़ना सरल है और सत्य बात क्या है और किसमें हित है यह सब जान लेना सुगम है।

प्रमाणका व्युत्पत्त्यर्थ – प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती है। इतने हिस्सेसे शब्द व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ कर रहे हैं। सीधा अर्थ तो यह है कि सम्यग्ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि होती है और मिथ्याज्ञानसे अर्थकी सिद्धि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं होती है। यहां प्रमाण शब्दको तीन साधनोंमें सिद्ध करना कर्तृ साधन, करण, साधन और भावसाधन कर्तृसाधनमें तो यह अर्थ किया जायगा कि स्वपर प्रमेयके स्वरूपको जो यथावत् जानता है उसका नाम प्रमाण है। करणसाधनमें यों कहा जायगा कि जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है, और, भावसाधनमें जानन को प्रमाण कहते हैं, यों कहा जायगा। इन साधनोंसे भिन्न पदार्थोंकी बात कुछ नहीं आयी, लेकिन कुछ भेद और प्रकट हुआ है। द्रव्य और पर्याय ये संज्ञा प्रयोजन आदिक विवक्षासे भिन्न हैं किन्तु भिन्न पदार्थ आधार नहीं है; वह एक ही आधार है द्रव्य और पर्यायका इसलिए वह अभेद स्वरूप है।

प्रमाणकी कर्तृसाधनतामें स्वातन्त्र्यकी विवक्षा जब यह कहा गया कि जो क्षयोपशम विशेषके कारण आत्मा जानता है उसे प्रमाण कहते हैं तो स्व और पर पदार्थके ग्रहणकी क्रियामें परिणत इस आत्मामें अपरतंत्रकी विवक्षा की है अर्थात् यह जाननेमें स्वतंत्र है तो कर्तृसाधनमें स्वतंत्रताकी घोषणा की है। प्रमाण किसे कहते हैं? जो जानता है सो प्रमाण है। इसमें द्रव्य और पर्यायका अभेद भी किया गया और स्वतंत्रता घोषित की, तथा, ज्ञाता आत्माका प्रमाण शब्दसे ग्रहण किया। जैसे जो प्रकाश करे सो प्रदीप। तो स्व और परका प्रकाश करने वाले प्रदीपमें जैसे स्वतंत्रताकी विवक्षा की इसी तरह इस प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्तिमें स्वतंत्रताकी विवक्षा की है।

प्रमाणकी करणसाधनता व भावसाधनतामें विवक्षा—जब द्रव्य और पर्यायमें भेद विवक्षाकी तब करणसाधन बना। जिसके द्वारा जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं। इसमें उत्पन्न हुई जो ज्ञान पर्याय है उसका प्रधानरूपसे आश्रय किया है। जिसके द्वारा जाना जाता है वह प्रमाण है। जिसमें कर्ताको तो गौण कर दिया और विज्ञान पर्यायको प्रधान कर दिया। तो इसमें साधकतमत्वकी विवक्षा रही। जाननरूप क्रियामें साधन विशेष क्या है उसकी विवक्षामें करणसाधन बना। और, केवल एक भावमात्रकी दृष्टि करे तो यथावत जाननेका नाम प्रमाण है, यह भाव हुआ। भाव क्रियाप्रधान होता है। तो इस प्रकार तीन साधनोंसे प्रमाण शब्दका अर्थ किया। प्रमाणका अर्थ ज्ञाता हुआ, ज्ञानपर्याय हुई और जानन हुआ।

द्रव्य व पर्यायके भेदाभेदके सम्बन्धमें एक जिज्ञासा--यहां यह शंका की जा सकती है कि तुमने ये तीन साधन जो निकाले वे इस आधारपर निकाले कि द्रव्य और पर्याय अर्थात् आत्मा और विज्ञान पर्यायमें कथंचित् भिन्न हैं और अभिन्नता ये दोनों तो परस्पर विरुद्ध तत्त्व हैं। विरुद्ध जो शब्द हैं वे एक दूसरेसे अत्यन्त दूर रहा करते हैं। परस्पर परिहार रूपसे अवस्थित रहा करते हैं, इस कारण इनमेंसे कोई एक ही वास्तविक है, फिर वस्तुको भेदाभेदात्मक कहे तो सही नहीं। जो भेदरूप है वह अभेदरूप कैसे, जो अभेदरूप है वह भेदरूप कैसे। इस शंकाके उत्तरमें कुछ उदा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रताकी दृष्टि रखना चाहिए तब समझमें आयगा। शंकाकारका यह मतलब है कि द्रव्य तो हुआ आत्मा इस प्रकरणमें और पर्याय हुआ ज्ञान, तो आत्मा और ज्ञान कथंचित् भिन्न हैं यहां यह शंका की है कि भिन्न हैं तो भिन्न ही हैं और अभिन्न हैं तो अभिन्न ही हैं। दो प्रकारता कैसे आ सकती है ? क्योंकि सपक्ष प्रतिपक्ष शब्दोंका परस्पर विरोध है। मनुष्य और अमनुष्य ये दो एक जगह कैसे हो सकते हैं ?

द्रव्य व पर्यायमें भेद और अभेदकी दृष्टिका अविरोध - शंकाके उत्तरमें विचारिये कि दोनोंको एक जगह रहनेमें क्या बाधा आती है ? क्योंकि, न पाया जाय उसका नाम बाधा है, अर्थात् आत्मा और ज्ञानमें भेद और अभेद दोनों बातें सिद्ध न हों तो बाधा मानें, पर वह तो सिद्ध है। समस्त पदार्थोंका भेदाभेदात्मक रूपसे ही ग्रहण हुआ करता है। जहां भेद देखा जाता है वहीं अभेद भी निरखा जाता है। यहां मंतव्य यह है कि आत्मा और ज्ञान यद्यपि एक पदार्थ हैं मगर आत्माको ही क्या ज्ञान कहेंगे, क्या ज्ञानको ही आत्मा कहेंगे ? यदि यों कहा जाय तो फिर बात यह हो गई कि आत्मा ज्ञानमात्र ठहरा, उसमें और कोई गुण नहीं ठहरा। आनन्द है, दर्शन है, शक्ति है, अनेक गुण हैं, यदि आत्मा और ज्ञान सर्वथा अभेदात्मक हैं तो पर्यायवाची शब्द कहना चाहिए। आत्मा कहो चाहे ज्ञान कहो एक बात होगी, तो बस अन्य गुणों की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए सर्वथा अभेदरूप नहीं कह सकते लेकिन सर्वथा भेदरूप भी नहीं कह सकते। क्या आत्मा ज्ञानके बिना अलग पड़ा रहता है या ज्ञान आत्माके बिना अलग पड़ा रहता है ? आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है, उसका प्रति-समयमें कोई एक अखण्ड परिणाम होता है। उस अखण्ड परिणतिको जानकारीके लिए हम भेद कर देते हैं जो जानता है, देखता है, जो आनन्दका अनुभव करता है सो आत्मा है। दूसरा इस ओरसे उत्तर दे कि आत्मा शब्द कहनेसे धर्मी आत्माकी एक पर्यायका ग्रहण होता है तो संज्ञा दो हैं—आत्मा और ज्ञान। लक्षण दो हैं – आत्मा तो ज्ञानादिक अनन्त गुणोंका पिण्ड है और ज्ञान उन गुणोंमेंसे एक गुण है। प्रयोजन का भी भेद है। जब कोई आत्मा आत्मा शब्दसे बात करता है तो एक अखण्ड वस्तुके दर्शनका प्रयोजन रहता है, और जब ज्ञान करके बात होती है तो कुछ विशेषता खोज-नेका प्रयोजन रहता है। इस कारणसे तो भेद हैं, परन्तु आधार जुदा-जुदा नहीं है इस कारण अभेद है।

भेदाभेदात्मकताके वर्णनकी पद्धति—देखिये ! व्यवहारमें भी सब भेदा-भेदात्मकरूपसे वर्णन हुआ करता है। भींत सफेद है यों भी बोला जाता है और भींत में सफेदी है यह भी बोला जाता है। भींत सफेद है ऐसा बोलनेपर अभेदकल्पना हुई और भींतमें सफेदी है ऐसा कहनेपर भेदकल्पना हुई। तो सभी पदार्थोंमें भेदाभेदात्म-कताकी दृष्टि की जा सकती है। विरोध कहां रहा ? जब भेद अभेद दोनों समझमें आ गए तो विरोधकी क्या बात रही ? विरोध तो तब है जब कुछ न पाया जाय और उसको बताना चाहें। जैसे घोड़ेके सिरपर सींगका विरोध है, घोड़ेके सिरपर कभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सींग हुआ नहीं करते, किन्तु जिस पदार्थका जो स्वरूप है उस स्वरूपका पदार्थसे विरोध तो नहीं हो सकता। आत्मामें ज्ञानका विरोध है क्या ? ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है। तो उस स्वरूपमें कभी भेदरूपसे देखना होता है कभी अभेदरूपसे देखना होता है, कभी भेदाभेदात्मकरूपसे एक साथ देखना होता है। तो यह विरोधकी बात नहीं है। इसलिए प्रमाण शब्दका जो अर्थ किया है जो जाने सो प्रमाण ! जिसके द्वारा जाना जाय सो प्रमाण। जो जानन है सो प्रमाण। ये तीन बातें युक्तियुक्त सिद्ध होती हैं। केवल अभेद भी यथार्थ प्रतीत नहीं होता, केवल भेद भी यथार्थ प्रतीत नहीं होता है और अभेदको भेदसापेक्ष न मानकर और भेदको अभेदसापेक्ष न मानकर न्यारे न्यारे जगहमें अभेद और भेद दोनोंकी प्रतीति नहीं होती। प्रत्येक पदार्थमें भेदाभेदात्मकता प्रतीत होती है। पदार्थ स्वयं कैसा है ? वह तो अवक्तव्य है, पर उसको जब हम समझना चाहें तो कभी भेद प्रधान दृष्टिसे समझते हैं और कभी अभेदप्रधान दृष्टिसे समझते हैं।

ग्रन्थमें मौलिक अवगमकी दृढताका पोषण—यह ग्रंथ वस्तुके स्वरूपको समझनेके क्या उपाय हैं और जिस ज्ञानसे वस्तुको समझा जाता है वह ज्ञान सही है या झूठा है इसका निर्णय करनेकी कुञ्जियां बतायी गई हैं। इस ग्रन्थमें यद्यपि विषयोंका विवरण न होगा कि कोई श्लोकका विवरण हो या किन्हीं तत्त्वोंका विवरण हो, इस ग्रंथका प्रयोजन तो यह है कि हम जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ जानते हैं वह हमारा ज्ञान सच है या नहीं है इसका निर्णय करनेकी कुञ्जी दिखाई गई है। तब यों समझिये कि केवल नींव दृढ़ करायी गई है। हम पदार्थोंको जानते हैं उस सम्बन्धमें जब तक हम अपने आपमें यह निश्चय नहीं बना पाते कि हमारा ज्ञान सही है तब तक पदार्थोंके ज्ञानमें भी संदेह रहता है, जो कोई यह कहते हैं कि यह भी अमुक चीज है, चौकी है तो जो हमने ज्ञान किया है वह ज्ञान हमारा पक्का है, चाहे इस तरहका विकल्प कोई न करे। कौन करता है विकल्प, सब पदार्थोंको जानते हुए चले जाते हैं। प्रत्येक पदार्थके जाननेके बीच कोई ऐसा विकल्प नहीं करता कि मेरा ज्ञान सच है किसी पदार्थका ज्ञान सच हो, लेकिन मेरा ज्ञान सत्य है ऐसे निर्णयके बिना पदार्थके सम्बन्धमें जानकारीकी दृढ़ता नहीं हो सकती। तो यह अति आवश्यक है कि हम जो कुछ भी जानें वह ज्ञान हमारा पक्का है यह निर्णय करलें।

ज्ञानकी समीचनताके परीक्षणका सम्बन्ध—दूसरे लोग जो कुछ कह रहे हैं, बता रहे हैं उनकी बात सच है या नहीं इसका निर्णय हम कब करेंगे ? जब हम यह जान सकें कि जिसमें ऐसे ऐसे गुण पायें जाय वह ज्ञान तो सच है, जिसमें ऐसे२ दोष न रहें वह ज्ञान तो सच है और जिसमें ये गुण न हों, ये दोष हों वह ज्ञान मिथ्या है। तो इसमें यह ही बात बतायी जायगी कि कौन कौनसे दोष हुआ करते हैं जिन दोषोंको बताकर यह कह सकें कि आपका ज्ञान झूठा है। एक उदाहरणके लिये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रसंग लें। कोई मनुष्य यह व्याख्या रखता है कि इस जगतको बनाने वाला कोई व्यक्ति है। अब कोई यदि इसका खण्डन करे तो खण्डन करने वालेके समक्ष ये दो बातें रखी जायें कि यह बतावो कि कोई व्यक्ति जगतको करने वाला है। यदि यह बात तुम मानते हो खण्डन करने वाले भाई ! तो तुम खण्डन ही क्या करोगे। और, यदि तुम यह मानते हो कि जगतका करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है तो जो चीज नहीं है उसका तुम खण्डन क्या करोगे ? तो खण्डन करने वाले तुम चुप बैठो। यदि है तो तुम खण्डन क्या कर सकते और यदि नहीं है, चीज ही नहीं है तो खण्डन किस का करते हो। अब बतलावो किसका खण्डन करने आये हो ? तो खण्डन करनेवाला यह कहेगा कि हम तुम्हारे विकल्पोंका खण्डन करते हैं। हम जगतके करने वाले व्यक्ति का खण्डन करने नहीं आये हैं। तुम्हारे विकल्पोंसे जो मिथ्या तरंग उठ रही है उस तरंगका खण्डन करने आये हैं कि यह तरंग तुम्हारी मिथ्या है अर्थात् बाह्य पदार्थोंके अनुरूप नहीं है। तो खण्डन पदार्थका नहीं किया जाता। खण्डन किया जाता है दूसरों की मिथ्या धारणाका।

व्यवहारमें धारणानुसारी प्रवर्तन— बातचीतका दौरान भी, लोगोंका झुकाव भी दूसरोंकी धारणापर रहता है। बातचीतके प्रसंगमें हमें यदि यह समझमें आये कि आप इस समय गुस्साकी रूपमें आ गए तो हमारा भी सारा आशय बदल जायगा और जो बात आप कह रहे हैं उससे कभी अच्छी बात आप कह रहे हैं और हमारी समझमें यह रहे कि आप हितकी दृष्टिसे बात कह रहे हैं तो हमारा आशय विरुद्ध न बनेगा। तो जितना भी व्यवहार टिका हुआ है यह सब अन्तः वार्तापर टिका हुआ है ज्ञानको हम किसको सही मानें किसको झूठ मानें इसका निर्णय इस ग्रन्थमें किया गया है।

परीक्षाके सर्वसम्मत उपायकी वक्तव्यता—इस परीक्षामुखसूत्र जैसे वक्तव्यको समझे बिना कभी वस्तुके निर्णयमें सफल नहीं हो सकते। यों छोटी छोटी जानकारी रखकर अथवा ग्रन्थोंमें जो कुछ सीधा सादा लिखा है उसे जानकर कोई सन्तोष मान ले—मैंने खूब अध्ययन किया है, मैंने तो सब कुछ अध्ययन कर लिया, वहां अधूरापन ही है। देखो, एक तो होती है कहनेकी जानकारी और एक होती है प्रतिभा। न्यायशास्त्रका प्रतिभासे सम्बन्ध है। किसी दूसरे पुरुषको हम अपने आगम शास्त्रकी कुछ बात कहकर उसे चुप करना चाहें तो वह चुप होगा क्या ? अजी साहब हमारे अमुक ग्रन्थमें तो यों लिखा है। लिखा होगा, तुम्हारे ग्रन्थ कपोल-कल्पित हैं, जो चाहे लिख दिया है, हर एक कोई दूसरोंके लिए यही उत्तर दे सकता है। वहां तो युक्तियोंसे सिद्ध करना होगा। और, युक्तियाँ वादी और प्रतिवादी दोनोंके लिए मान्य हुआ करती हैं। शास्त्र, आगम दोनोंके लिए मान्य नहीं हुआ करते। तो उन्हीं युक्तियोंसे प्रमाणोंसे इस ग्रन्थमें बताया जायेगा कि किस शैलीसे युक्तियां निर्दोष होती

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं और किस शैलीसे युक्तियां सदोष होती हैं। सदोष ज्ञान अप्रमाण है और निर्दोष ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् सच्चे ज्ञानसे पदार्थकी सिद्धि होती है, सच्चे ज्ञानसे हितके प्राप्तिकी सिद्धि होती है और सच्चे ज्ञानसे ही अहितको छोड़नेकी दृष्टि होती है। और, सच्चे ज्ञानसे ही उपेक्षा करके विश्राममें स्थित होनेकी दृष्टि होती है। तो समस्त कल्याण तो सच्चे ज्ञानपर निर्भर है और मिथ्याज्ञानसे सब अनर्थ ही अनर्थ होता है।

प्रमाणके एकवचनमें व्यापक दृष्टि—यद्यपि प्रमाण अनेक भेद वाले हैं जो आगे बताये जायेंगे। मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञानके भी अनेक भेद - जैसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, तर्क, अनुमान आदि अवधिज्ञानके भी अनेक भेदोंमें प्रमाण बहुत विस्तृत हैं। प्रथम तो प्रमाणके ही भेदोंमें परस्परमें बहुत विरोध है दार्शनिकोंका। कोई दो ही प्रमाण मानते हैं, कोई तीन, चार, पाँच मानते, कोई एक अभाव मिलाकर एक प्रमाण अधिक मानते हैं तथा अनिवार्य प्रमाण छोड़ देते हैं। तो इसमें प्रमाणपरीक्षा की गई है, किसे प्रमाण कहते हैं, प्रमाण कितने होते हैं, कोई प्रमाण झूठा तो नहीं है, कोई वाहियात बात न आ जाय जो अप्रमाणभूत है। इस तरह आत्मज्ञान और प्रमाणकी परीक्षा की गई है। तो इस श्लोकमें जो एकवचनका शब्द देकर कहा है - प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है तो कोई यह कहे कि यों कहना चाहिए कि प्रमाणोंसे अर्थकी सिद्धि होती है। तो यहां जितने भी प्रमाण कहे जायेंगे उन सब प्रमाणोंमें जो एक लक्षण व्यापक है उस लक्षणकी मुख्यता रखकर एकवचन कहना सही बात है। जैसे कोई बड़ा युद्ध हो और उस युद्धमें सब लोग सफल हो गए तो लोग एकवचन करके भी बोलते हैं—देखो मनुष्य सब कुछ कर सकता है यह काम मनुष्यने किया। तो कोई कहे—वाह यह काम तो लाखों मनुष्योंने किया, तो मनुष्य एकवचन कहनेसे सभीमें यह बात आ गयी। तो ऐसे ही प्रमाण शब्दका एकवचनसे निर्देश किया है तो उसमें प्रमाणका जो एक साधारण लक्षण है उस लक्षणकी दृष्टिसे प्रमाणको एकवचनसे कहा है।

सच्चे ज्ञानसे कल्याणकी सिद्धि होती है, जो तुम चाहो उसकी सिद्धि होती है और मिथ्याज्ञानसे अनिष्टकी सिद्धि होती है यह बात सही है ना ! इसी कारण इस ग्रन्थमें सच्चे ज्ञानका और झूठे ज्ञानका लक्षण बताया जायगा। यह इस श्लोकका प्रयोजन है।

प्रमाणसे अर्थसिद्धिका समर्थन—प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है। प्रमाण नाम है ज्ञानका। सच्चे ज्ञानसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। अर्थके मायने हैं जो चाहा जाय ! जो प्रयोजनके अर्थी हैं उनके द्वारा चाही हुई बात क्या है कि हेय का त्याग हो जाय, उपादेयका ग्रहण हो जाय। ज्ञानसे और क्या फल चाहते हो ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान करनेका यही फल है कि जो बात छोड़ने योग्य है, जिसमें अहित भरा है उसे छोड़ दें और जिसमें हित भरा है उसे ग्रहण करा दे। ज्ञानसे दो ही तो बातें होती हैं। तीसरी बात कही गयी थी कि जो उपेक्षा करने योग्य पदार्थ है उसकी उपेक्षा कर दे। तो उपेक्षा करना भी छोड़नेकी तरह है क्योंकि जो उपेक्षा की जाने योग्य वस्तु है वह ग्रहण करनेकी क्रियाका कर्म नहीं होता। इसलिए उपेक्षा करना भी हेय करना समझिये। तो ज्ञानीके दो ही फल हैं कि छोड़ने योग्य चीजको छुड़ा दे और ग्रहण करने योग्य चीजको ग्रहण करा दे। इतना प्रकाश ला दे यह है प्रमाणका काम। तो अब समझ लीजिए कि जितना जो कुछ भी व्यवहार हो रहा, अर्थकी सिद्धि हो रही सब प्रमाणसे हो रहा है। तो प्रमाणसे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार हो जाय ऐसा प्रकाश उत्पन्न होता है।

सिद्धिके अर्थोंमें प्राकरणिक सिद्धि—प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है, इसका अर्थ किया जा रहा है। सिद्धिका अर्थ तीन प्रकारसे होता है। जो चीज न हो उसकी उत्पत्ति हो जाना इसका नाम भी सिद्धि है। जो चीज चाही गई हो उसकी प्राप्ति हो जाना इसका नाम भी सिद्धि है। और उसके मर्मकी जानकारी हो जाना इसका भी नाम सिद्धि है। प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि कही गई है तो इसमें कौन सी सिद्धि ली गयी ? सिद्धिके तो तीन प्रकार हैं। जो चीज नहीं है उसकी उत्पत्ति हो जाना, इष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जाना व भावकी जानकारी होना। असत्की उत्पत्ति हो जाना, यह सिद्धि तो यहाँ ग्रहण नहीं की जा सकती है क्योंकि ज्ञानमें अर्थकी सिद्धि होती है क्या इसका यह भाव बन जायगा कि ज्ञानसे जो चीज नहीं है वह उत्पन्न हो जाती है ? इसलिए असत्की उत्पत्ति होनेरूप सिद्धिका तो ग्रहण है नहीं। तब फिर दोनों सिद्धियां आती हैं। मन चाही चीजकी प्राप्ति हो जाना और उसके मर्मकी जानकारी हो जाना। ये दोनों प्रकारकी सिद्धियाँ सम्यग्ज्ञानसे हुआ करती हैं।

इस ग्रन्थमें सम्यग्ज्ञानका परीक्षण किया जायगा। सच्चा ज्ञान कौन हुआ करता है ? जिस सम्यग्ज्ञानके आधार पर ही सब कुछ हितप्राप्ति, अहितपरिहार व यथार्थ जानकारी सब कुछ निर्भर है उस सम्यग्ज्ञानकी परीक्षा करना आ जाय तो यह बहुत बड़ी प्रतिभाकी बात होगी। समीचीन सिद्धिका नाम है संसिद्धि। यहाँ प्रमाणके अर्थकी संसिद्धि होती है यह शब्द दिया गया है। भली प्रकार सिद्धि होनेसे मतलब यह है कि जिसमें अन्य कारणोंके व्यवधानकी अटक न मानी जाय और संशय विपर्यय आदिक दोष भी न हों ऐसे अर्थकी सिद्धि होती है।

जातिभेदसे उपकारकार्थसिद्धिका ग्रहण हितकी प्राप्ति और अहितका परिहाररूप सिद्धिमें भी मनुष्योंकी जाति और प्रकृतिके भेदसे भेद हो सकता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किस बातमें हमारा और दूसरों का हित है, इस तरहसे अर्थसिद्धिकी व्याख्यामें विशेषरूपसे भेद हो सकता है मगर जिसे जो बात प्रयोजनकी हो उसे उस बातकी सिद्धि हो जाना यह अर्थसिद्धि है। यह सर्वत्र साधारणरूपसे है। जैसे हम आप लोगोंको कोई नीमकी पत्तीका साग बनाकर खिलाये अथवा खाली नमक खूब भसकाये तो क्या यह हम आपको इष्ट है ? अरे नीमकी पत्ती मनुष्योंको इष्ट नहीं है। ऊँट, बैल, भैंस वगैरहको इष्ट है। उनको तो नमक भी फकानेकी आवश्यकता होती है। न नमक फकाया जाय तो उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इन जानवरोंको लोग छँटाक आध पाव तक नमक फका देते हैं, पर मनुष्योंको ये चीजें इष्ट नहीं हैं। तो जाति और प्रकृतिका भी तो भेद होता है। जाति प्रकृति आदिके भेदसे उपकार करनेवाली अर्थसिद्धिका भेद तो हो जायगा, जैसे नीमकी पत्तीमें रहने वाले कीड़े हैं, उन्हें तो नीम ही सुहाता है, या ऊँट आदिक जानवर हैं, उनका तो नीमकी पत्ती ही भोजन है। उन्हें तो जातिसे उस नीमकी पत्तीमें ही अभिलाषाकी बुद्धि उत्पन्न होती है, और हम आप लोगोंकी अभिलाषा चन्दन आदिकमें रहती है, उनमें उन पशुओंके द्वेष रहता है।

प्रकृतिभेदसे उपकारकार्थसिद्धिका ग्रहण—प्रकृतिभेदसे मनुष्योंमें भी भेद निरखा जाता है। जिस मनुष्यके पित्त प्रकृति है उसे उष्ण चीजके स्पर्श करनेमें द्वेष होता है। पित्त प्रकृति वालेको ठंडी चीज सुहाएगी, और जिसकी वातप्रकृति है उसके गर्म चीजके स्पर्शमें प्रेम होता है। तो पित्तप्रकृति वालेको उष्णस्पर्शमें द्वेष है और शीतस्पर्शकी अभिलाषा है और जिसकी वातप्रकृति है उसे गर्मस्पर्शकी अभिलाषा है और शीतस्पर्शसे द्वेष है। पित्त रोग वालेको आगका सेंक कभी नहीं बताया जाता और बात रोग वालेको आगकी सेंकका भी प्रयोग किया जाता है। तो प्रकृति भेदसे अभिलाषाभेद है और उपकारकभेद है। तो यह भी अर्थसिद्धिमें गर्भित है। जिस व्यक्तिको जिस बातसे हित है उसकी सिद्धि होना उसकी अर्थसिद्धि है। तो सम्यक् ज्ञानसे अर्थकी संसिद्धि होती है। जो अभी जाति प्रकृतिके भेदसे जीवोंके हितप्राप्ति अहित परिहारका भेद किया गया है यह बात सही है, इस बातको उनके ज्ञानकी दृष्टिसे विचारिये। वह ज्ञान असत्य नहीं है। हम पित्तप्रकृति वाले शीतस्पर्शमें हित समझें तथा दूसरे वातप्रकृति वाले उष्ण प्रकृतिमें हित समझें और वहाँ हम यह समझने लगें कि तेरी बुद्धि विपरीत है, तू उष्ण पदार्थको चाहता है तो उसके ज्ञानका हम अपने ज्ञानसे तौल करें यह बात तो न बनेगी। क्या हम यह कह सकते हैं कि उसका ख्याल झूठा है ? प्रकृतिभेदसे जो उपकारक अर्थ है उसे फिर बैठाते हैं, उसकी सिद्धिकी दृष्टिसे उसका ज्ञान प्रमाण है।

ग्रन्थकी परीक्षाप्रधानता—इस ग्रन्थमें ज्ञान ज्ञानका ही जिकर आयगा और व्यवहारिक ढंगसे जिकर आयगा, जिसकी जरूरत हमें व्यवहारमें भी पड़ती है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और परमार्थ पुरुषार्थके लिए भी पड़ती है। इसका अध्यात्मसे भी प्रयोजन है और व्यवहारसे भी प्रयोजन है। ऐसा यह व्यापक परीक्षाग्रन्थ है। परीक्षा ही है प्रधान जिसमें उसे कहते हैं परीक्षामुख। परीक्षाका मुख है अथवा परीक्षाका आमुख है यह। जैसे किसी मनुष्यकी परीक्षा मुख से हुआ करती है। उसकी परीक्षा, उसका स्नेह, उसका सब कुछ जितना व्यवहार है उसका केन्द्र मुखस्थान है। कोई किसीसे बात करे तो उसके घुटनोंसे बात न करेगा रूढ़ि ऐसी है कि मुख देखकर बात करेगा। कुछ भी समझाना हो तो मुख देखकर समझायेगा। पैरोंको घुटनोंको देखकर कोई नहीं समझाता। तो जैसे व्यवहारपरीक्षामें, परिचयमें, व्यवहारमें मुखका स्थान है ऐसे ही ज्ञानकी परीक्षावोंमें इस ग्रंथका स्थान है। इसका नाम है परीक्षामुख।

हितकारितासे समीचीनताका प्रकाश–जो हितकी प्राप्ति कराये, अहितका परिहार कराये ऐसा जो समर्थ ज्ञान है उसे सत्यज्ञान कहते हैं। यह चीज हितरूप है, यह चीज अहितरूप है यह व्यवस्था बनती है उपकारक चीज होनेसे और अपकारक चीज होनेसे। जो बात हमारे लिए उपकारक है वह हमारी हितकारी है और उसका ज्ञान सत्य ज्ञान है। जो हमारे लिए अहितकारी है वह हमारा अपकारक है और उसको ग्रहण कराने वाला ज्ञान झूठा है। केवल रुचिसे मतलब नहीं है और क्रियासे भी मतलब नहीं है, हित और अहितसे मतलब है। मिथ्यादृष्टि जीवोंका मिथ्यात्वसे अहित होता है किन्तु वे तो मिथ्यात्वमें अपना भला समझते हैं, इस दृष्टिसे कहीं मिथ्यादृष्टि जीवका भ्रान्त ज्ञान सम्यक् नहीं कहलाने लगेगा। हितकारी भी हो वह ज्ञान सम्यक् है और प्रमाणभूत होता है। तो प्रमाणसे अर्थकी संसिद्धि होती है।

प्रमाणाभावसे अर्थसिद्धिका अभाव–अब दूसरे चरणका अर्थ लेते हैं कि प्रमाणाभाससे अर्थकी संसिद्धि नहीं होती। प्रमाणाभासका अर्थ यह है कि जो प्रमाण तो न हो और प्रमाणकी तरह मालूम पड़े सो प्रमाणाभास है, ज्ञानाभास है। जो सही ज्ञान तो न हो पर सही ज्ञानकी तरह मालूम पड़े वह ज्ञानाभास है। स्व और परमें समस्त जगत आ गया। स्वमें यह ज्ञाता निज खुद आ गया और परके इस निज ज्ञाताके सिवाय शेष सर्व जीव और समस्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात काल द्रव्य। यों स्वपर प्रमेयके स्वरूपका प्रतिभास करने वाला प्रमाण होता है। जो ज्ञान प्रमाणकी तरह तो लगे पर वास्तवमें प्रमाण रूप नहीं है वह प्रमाणाभास है। इन प्रमाणाभासोंका (झूठे ज्ञानोंका) इस ग्रंथमें विस्तारपूर्वक वर्णन चलेगा। जिन ज्ञानोंसे धर्मका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जा सकता उनका तो इस ग्रन्थमें विस्तार पूर्वक वर्णन होगा ही, पर थोड़ा कुछ दिग्दर्शन करानेके लिए कुछ ज्ञानाभासोंका दिग्दर्शन कीजिये जिन ज्ञानाभासोंसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती, जो अहितकारी ही होते हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वैनयिकवादकी बुद्धिकी प्रमाणाभासता - प्रथम तो सर्वसाधारण मनुष्योंके द्वारा सम्मत जो ज्ञान है, विनयवादीका जो ज्ञान है एक तो वही प्रमाणाभास है अर्थात् जो वैनयिकवादी है, जिनके परीक्षणकी प्रधानता नहीं है और सभी हमारे देव हैं, हमारे गुरू हैं, हमारे शास्त्र हैं, सभी धर्मोंमें एक बात है, सभी दर्शन एक रूप हैं, ऐसी विनयवाद की जो अवबुद्धि है, विचारहीन जो सकल सम्बंधी ज्ञान है वह प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासके सम्बन्धमें इतनी भी बात समझ लेना चाहिए कि जो ९९ हिस्सा तक सच्चा सा लगे और जिसमें १ प्रतिशत भी असत्यकी गुंजायश है वह प्रमाणाभास कहलाता है। शतप्रतिशत यथार्थज्ञानका नाम प्रमाण है। विनेय बुद्धि वालोंने जहाँ सबको देव, गुरू, धर्म आदिक मान लिया उसमें कोई यथार्थ देव भी आ गया, यथार्थ गुरू भी आ गया, पर जहाँ यह ही यथार्थ है इसके अतिरिक्त अन्य नहीं इस प्रकार स्याद्वादकी पद्धतिसे विधिप्रतिषेधपद्धतिसे निर्णय नहीं होता है तो वह प्रमाणाभास है।

निर्विकल्प क्षणिक ज्ञानकी प्रमाणाभासता एक निर्विकल्प ज्ञान, क्षणिक ज्ञान, क्षणिकवादियोंने प्रमाण माना है। निर्विकल्पज्ञान यह शब्द सुननेमें बहुत सुहावना लगता है। कहीं निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाणाभास होगा। वह तो सच्चा प्रमाण है, मगर निर्विकल्प ज्ञानकी व्याख्या तो सुनो, जो निर्विकल्पवादी अपने सिद्धान्तमें व्याख्या करते हैं, उनके सिद्धान्तमें ज्ञान एक समय ठहरता है, दूसरे समयमें दूसरा ज्ञान होता है और ज्ञान क्या दूसरा आत्मा ही हो जाता है। क्षणिकवादमें निर्विकल्प ज्ञान माना है। उस ज्ञानके स्वरूपमें ज्ञेय ग्रहण नहीं, ज्ञेयाकार नहीं। किसी प्रकारसे यदि निर्णय किया जाय तो वह ज्ञान सविकल्प हो जाता है उस सिद्धान्त में, और वह मिथ्या हो जाता है। तो बतावो निर्णायक ज्ञान सब मिथ्या है क्षणिकवादमें। और, जो निर्णायक नहीं, किसी बात को पुष्ट करने वाला नहीं, एक समय मात्रकी स्थितिका ज्ञान है वह प्रमाण है। ऐसा निर्विकल्प ज्ञान न हितकी प्राप्ति करा सकता न अहितका परिहार करा सकता। वह क्षणिक ज्ञान प्रमाणाभास है। जो योगी सम्मत, जैन शासनमें जिनकी पूज्यता कही गई है ऐसा जो भी, निर्विकल्प ज्ञान है वह ज्ञान भी सर्वथा निर्विकल्प नहीं है, किन्तु रागद्वेषके विकल्प नहीं रहे इसलिए वह निर्विकल्प है। परन्तु क्षणिकवादी तो स्वरूपसे ही ज्ञानको निर्विकल्प कहा करते हैं। वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? तो प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती। इसको निरखते भी जाइये कि कौन लोग किस प्रकारके ज्ञानको सही मानते हैं और उस ज्ञानसे वास्तवमें अर्थ सिद्धि होती है या नहीं ?

सन्निकर्ष ज्ञानकी प्रमाणाभासता—कुछ लोग सन्निकर्ष ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियके द्वारा पदार्थोंका भिड़ना हो तब वह सच्चा ज्ञान कहलाता है। कुछ थोड़ा जल्दी जल्दी सुननेमें कुछ अच्छा सा मालूम होता कि सन्निकर्षवादी ठीक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो कह रहे हैं। जब तक हाथकी और चीजकी भिडंत नहीं होती तब तक कैसे मालूम पड़े कि यह ठंडा है कि गर्म ? जब तक जीभकी और भोजनकी भिडंत न हो तब तक कैसे मालूम हो कि क्या रस है। जब तक नाककी और उस चीजकी भिडंत न हो तब तक क्या मालूम पड़े कि इसमें गन्ध है। ऐसे ही आंखोंकी और चीजकी भिडंत नहीं होती तब तक हमें वर्णका ज्ञान नहीं होता। ऐसी ही कानों और शब्दोंकी भी बात है। तो कुछ ठीक सा लगता है कि सन्निकर्ष ज्ञान होता है। लेकिन ठीक कुछ नहीं है। ये भिडंतें प्रमाण हैं तो आत्मामें जो ज्ञानस्वरूप पड़ा है उस ज्ञानका विलास प्रमाण है ? इन सब बातोंका बड़े विस्तारपूर्वक इसमें खण्डन मण्डन आयगा जिसमें बड़ी-बड़ी नई बातें विदित होंगी। यहाँ केवल इतना ही बताया जा रहा है कि जो सच्चे ज्ञानी नहीं हैं, प्रमाणाभास हैं, उन प्रमाणाभासोंमें अर्थकी सिद्धि नहीं होती, झूठे ज्ञानसे कल्याणकी सिद्धि नहीं होती।

अस्वसंवेदी ज्ञानकी प्रमाणाभासता—कुछ लोग ऐसा भी कहा करते हैं कि ज्ञान सब अप्रत्यक्ष होते हैं। ज्ञानसे पदार्थ जाना तो जाता है, पर ज्ञानका थाह वह ज्ञान वही पाता जिस ज्ञानसे हमने पदार्थ जाना है। वह ज्ञान सच्चा है इसका ज्ञान करनेके लिए हमें एक नया ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है, फिर उस ज्ञानसे भी जो यह जाना कि यह ज्ञान सच्चा है ऐसा ज्ञान करने वाला वह ज्ञान सच्चा है या नहीं इसकी जानकारीके लिए तीसरा ज्ञान करना पड़ता है। इस तरह उन ज्ञानोंकी सच्चाई जाननेके लिए ज्ञान ही ज्ञान करना पड़ता है। इतना बड़ा व्यवसाय करनेके बाद फिर हम यह निर्णय कर पायें कि हमने जो इस पदार्थको जाना वह सही है। कितनी लपेट उन ज्ञानोंमें डाली गई है। इसे कहते हैं अस्वसम्विदितज्ञान। जो ज्ञान खुदके स्वरूपको न जान सके वह अस्वसम्विदितज्ञान ही प्रमाण है। स्वसम्वेदीज्ञान तो होता ही नहीं है ऐसा कुछ लोगोंका कहना है। लेकिन यह प्रमाणाभास है। कोई दीपक जल रहा है और उस दीपककी वजहसे कमरे में ठहरे हुऐ सब पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है जब कोई कहता है कि दीपक उठा लावो उस कमरेसे, तो क्या कोई यह कहता है कि दूसरा दीपक लावो तो हम दीपक उठा लायें ? अरे उस दीपकमें दूसरेको और खुदको प्रकाश करनेकी कला पड़ी है। जलते हुए दीपकका ही नाम दीपक है दीपको ढूँढनेके लिए दूसरे दीपककी जरूरत नहीं पड़ती। ऐसे ही ज्ञानको यह सच्चा है ऐसा समझनेके लिए दूसरे ज्ञानकी जरूरत नहीं पड़ती। तो जो अन्य अन्य प्रकारसे ज्ञान माना है और ज्ञानकी तरह लगता है किन्तु वास्तवमें यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह सब प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासोंसे अर्थकी सिद्धि नहीं है।

अप्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूपकी प्रमाणाभासता—मंतव्य ऐसा है कि जो ज्ञान दूसरे पदार्थको जानता है उस ज्ञानका कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। न अपने ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होता है और न दूसरे ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष होता है। अस्वसम्वेद्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञानमें यह बात थी कि ज्ञान अपनेको नहीं जानता, दूसरे पदार्थको जानता और उस ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता होती है। तब अन्य ज्ञानके द्वारा ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु किसीका मंतव्य है कि कभी भी ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा अत्यन्त अप्रत्यक्ष ज्ञानका मंतव्य प्रमाणाभास है। प्रमाणसे तो अर्थकी सिद्धि होती है, प्रमाणाभासोंसे अर्थोंकी सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकरणमें कुछ प्रमाणाभासोंका वर्णन चल रहा है।

अनाप्तागमज्ञानकी प्रमाणाभासता— कुछ ज्ञान अनाप्त पुरुषोंके द्वारा रचे गए आगम सम्बन्धी होते हैं। जो पुरुष निर्दोष नहीं हैं, सर्वज्ञ नहीं हैं, अपने आपको जो भ्रममें रक्खे हुए हैं ऐसे पुरुषोंने भगवानका नाम देकर ग्रन्थ रचना की है, उनमें जो वचन हैं, ज्ञान हैं वे प्रमाणाभास हैं, जिनके वचनोंमें पूर्व अपर विरोध हो और जो आत्माका प्रयोजन शान्ति और निराकुलता है उसके साधक न हों प्रत्युत रागद्वेष कामको ही बढ़ाने वाले हों ऐसे वचन अर्थकी सिद्धि नहीं कर सकते। अतएव वे भी प्रमाणाभास हैं। प्रमाणाभासोंसे अनर्थ ही होता है। भगवानकी भक्तिके नामपर अनेक प्रकारके राग श्रृङ्गारमें मस्त रहना और अपने आपके वैराग्यकी सम्हाल न हो सकना ये सब बातें अनाप्त आगमसे हुआ करती हैं।

अनुमानाभासकी प्रमाणाभासता— लोकमें छद्मस्थ जीवोंमें एक व्यापक हुआ ज्ञान अनुमान हुआ करता है। अनुमानमें मुख्य तीन अङ्ग होते हैं—एक आधार जिसे पक्ष कहते हैं और एक साध्य जिसकी हमें सिद्धि करना है। और, एक साधन जिस कारणसे हम सिद्धि करेंगे। अर्थात् साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान है। तो साधन ऐसा होना चाहिए कि उस साध्यके बिना कभी रह न सके। साध्यका अविनाभावी हो तब तो साध्यका, साधनसे ज्ञान होगा। यदि कोई साधन साध्यके बिना भी रहता हो तो उससे साध्यका नियम नहीं रह सकता। तो अनुमानमें प्राण तो अविनाभावी चिन्ह हैं। जिस अनुमानके साधनमें अविनाभाविता न रहे उस साधनसे अनुमान सिद्ध करनेका प्रयास अनुमानाभास है। प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती है। लक्षणके वर्णनमें बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार हैं, और कितना ही वर्णन करते जावो अनुमानखण्डका विषय ही दर्शनशास्त्रमें अलगसे एक बड़ा विषय है, पर अविनाभावके नियमको तोड़कर अन्य-अन्य युक्तियोंसे अनुमानोंसे बड़े श्रृङ्गार किए जायें तो भी वे निष्प्राण हैं। अविनाभावसे रहित अन्य प्रकारसे जो अनुमान बनाये गए हैं वे सब अनुमान अनुमानाभास हैं, प्रमाणाभास हैं। प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती। यह कुछ संक्षेपमें दार्शनिकोंकी दृष्टिसे प्रमाणाभास बताया है।

संशयज्ञानकी प्रमाणाभासता— अब कुछ अन्य साधारण प्रमाणाभासोंको सुनिये। जो दर्शनशास्त्रमें भी उपयोगी हैं और हमारे व्यावहारिक कामोंमें भी उप-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

योगी हैं, ऐसे ज्ञानमें जो बाधा डालता है वह प्रमाणाभास है। प्रमाणाभासके संक्षिप्त तीन प्रकार हैं—संशय विपर्यय, अनध्यवसाय। किसी पदार्थके सम्बन्धमें अनेक कोटिका ज्ञान बनना, यह ऐसा है या ऐसा है वह सब संशय ज्ञान है। जैसे पड़ी तो हो सीप और सोच रहे हैं कि यह सीप है या चाँदी है तो वह संशय ज्ञान हो गया। यद्यपि उसमें एक कोटि सच्चाईकी भी भरी पड़ी है सीपका भी ख्याल कर लिया। पर वह तो संशयका रूप है, निश्चयात्मक नहीं है संशयमें अनेक कोटियोंकी उलझन हो सकती है जैसे कि सीप है कि चाँदी है कि काँच है, यों अनेक कोटियोंका स्पर्श कराने वाला ज्ञान संशयज्ञन है। वह संशयज्ञान प्रमाणाभास है। व्यवहारमें भी लगाते जाइये और अपने परमार्थ ज्ञानोंमें भी लगाइये। आत्माका संशय ज्ञान है— आत्मा है या नहीं है, आत्मा किसीके द्वारा बनाया गया है या नहीं बनाया गया है, रागरूप है या रागरहित है, किसी प्रकारका संशय करना संशय ज्ञान है। तो ऐसे संशयज्ञानसे प्रमाणाभाससे अर्थकी सिद्धि नहीं होती।

विपर्यय ज्ञानकी प्रमाणाभासता—विपर्यय ज्ञान भी प्रमाणाभास है। चीज है तो कुछ और दृढ़ता करके किसी और विपर्यय ज्ञानमें एक कोटिका स्पर्श है, संशय नहीं है, पड़ी तो सीप है और ज्ञान कर लिया कि यह चाँदी ही है। तो विपरीत एक कोटिका ज्ञान करे उसे विपर्यय ज्ञान कहते हैं। जैसे आत्मा तो है अमर और, यह ज्ञान करले कि आत्मा तो मर जाता है, फिर कहीं रहता ही नहीं है। जब तक यह शरीरमें बिजली है, गर्माहट है तब तक आत्मा आत्मा कह लो। गर्माहट गयी, लो फिर आत्मा रहता ही नहीं है। ऐसा विपरीत ज्ञान करना इन सब प्रकारके जो एक कोटिके स्पर्श करने वाले विपरीत ज्ञान हैं वे प्रमाणाभास हैं। प्रमाणाभासोंसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती।

अनध्यवसाय ज्ञानकी प्रमाणाभासता—तीसरा प्रमाणानुभास है अनध्यवसाय। अध्यवसायके मायने निर्णय और अनध्यवसायके मायने अनिर्णय याने कुछ थोड़ा समझमें आया कि कुछ है, इसके बाद इसके सम्बंधमें कुछ भी निर्णय न आये, जानकारी न बने वह अनध्यवसाय ज्ञान है। जैसे प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि चलते हुएमें मनुष्यके पैरमें तृण छू जाय, उसके बाद उसे उसके सम्बन्धमें निर्णय नहीं रहता कि क्या छू गया, या कोई साधारण आवाज सुननेमें आये, बहुत सी आवाजें आ रही हैं, पर सभी आवाजोंका कौन निर्णय करता है? जिससे प्रयोजन है उसका निर्णय होता है। अब इस समय चारों ओरसे लोग बोल रहे हैं चारों ओरसे आवाज आती है, चिड़िया भी बोल रहीं, लोग भी बोल रहे, चटाईकी खटपट भी आ रही, कुछ कपड़ोंकी भी फड़फड़की आवाज सुन पड़ती है, सभी आवाजें कानोंसे सुन लेते हैं पर निर्णय किस किसका करते हैं? जिसका प्रयोजन है उसका करते हैं। तो कुछ थोड़ी जानकारी हुई, जो न कुछ भी तरह है और फिर उसके सम्बन्धमें जानकारी न बने तो वह अनध्यवसाय है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रमाणाभासोंसे अर्थसिद्धिका अभाव—इन सब प्रमाणाभासोंसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती। अर्थ मायने जो अभीष्ट हो, उपकारक हो, ऐसी हितकारी बातकी सिद्धि अनध्यवसायसे, नहीं होती, न इससे स्वर्ग अपवर्गकी सिद्धि होती है। मिथ्या तप करनेपर भी कुछ मिथ्याके कारण स्वर्ग नहीं मिलता, किन्तु उस स्थितिमें भी जो कषायकी मंदता है उसके कारण स्वर्ग मिलता है। मिथ्या बातोंसे लौकिक सद्-गति भी नहीं प्राप्त होती। मनुष्य तो गुण अवगुणका पिण्ड है। गुणोंसे सद्गति है अवगुण से नहीं। अपवर्गका नाम है मोक्ष। जहाँ धर्म, अर्थ काम ये तीन वर्ग नष्ट हो गए उसे अपवर्ग कहते हैं। धर्म, अर्थ, इन तीनका पुरुषार्थ जहाँ खतम हो चुका, अर्थात् जो कृतकृत्य हो गया उसे कहते हैं अपवर्ग। धर्मका अर्थ है यहाँ पुण्य। जो त्रिवर्गमें धर्म शब्द दिया है उसका अर्थ पुण्य है। वह मोक्ष पुरुषार्थमें शामिल है। तो स्वर्ग अपवर्गकी भी प्रमाणाभाससे सिद्धि नहीं है। और, इस लोकके भी सुख आदिकके साधनोंकी प्राप्ति होना या जानकारी होना यह भी सिद्धि नहीं होती है प्रमाणाभाससे।

मिथ्यात्वकी महान विपदा—भैया ! सच पूछो तो जीवपर सबसे बड़ी आपत्ति मिथ्याज्ञानकी है। जैसे मिथ्याज्ञानसे ग्रस्त पुरुष किसी भी आधारपर टिक नहीं पाता, संशय, विपर्यय अनध्यवसायकी प्रमाणाभासतामें रहने वाले पुरुषोंके जैसे कहीं समीचीन स्थिति पर टिकाव नहीं होता है ऐसे ही अपने आत्माका यथार्थ ज्ञान न होनेपर ज्ञानाभासके अंधकारमें रहने वाले पुरुषोंको कहीं स्थिरता नहीं मिलती। ये संसारके सुख क्या कोई सुख हैं। थोड़ी देरको पुत्रकी चेष्टापर खुश हो रहे और थोड़ी देर बाद उसीपुत्रकी चेष्टाको देखकर धक्का लगता। थोड़ी देरको धनकी सम्हाल करते हुएमें मौज मान रहे और थोड़ी ही देरमें उसी धनके कारण कहो प्राण चले जायें। लेकिन इन्हें सुख माननेका जो भ्रम लगा है इस भ्रमसे वे ऐसे बेहोश हैं कि न तो समागमके कालमें ही शान्ति पा सकते हैं और न वियोगके कालमें ही शान्ति पायेंगे। तो प्रमाणाभासोंसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती है।

प्रमाणकी प्रधानता—इस श्लोकमें प्रमाण और प्रमाणाभासमें क्या होता है यह वर्णन किया गया है। प्रमाणसे अभीष्ट कार्यकी सिद्धि होती है और प्रमाणा-भाससे हितकारीकी सिद्धि नहीं होती। सबसे पहले प्रमाणकी बात कही है। इसके बाद प्रमाणाभासकी बात कही है क्योंकि प्रधान, समीचीन, हितकारी, उपकारक ही प्रमाण है। इस श्लोकमें दो अर्थ किए गए थे—एक अर्थमें तो भगवानका स्तवन होता है और एक अर्थमें इस ग्रन्थमें जो भी कहा जायगा उसका संकेत होता है। प्रमाणका अर्थ है भगवान। जहाँ प्रकृष्ट अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी और दिव्य ध्वनि हो उसे प्रमाण कहते हैं।

भगवान प्रकृष्ट माता—भगवान प्रमाता हैं। प्रमाताका यह भी अर्थ लगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लो। एक तो होती है माता और एक होती है प्रकृष्ट माता। भगवान हमारी उत्कृष्ट मां है। जैसे माता बालकोंका अनुशासन करती है। उपदेश आज्ञा और दन्ड विधान इन तीन पर जिसका प्रमुत्व है वह माँ सच्ची माँ कहला सकती है। कोई माँ बालकपर प्यार ही प्यार करे और हितका उपदेश न करे, वह बालक अहित कार्यमें लगे, उसे माँ दण्ड न दे तो वह माँ अपने मातृत्वकी जिम्मेदारी नहीं निभा सकती। वह तो एक तरहका पशु जीवन जैसा मोह है। जैसा पशुओमें मोह रहता है, पशु भी अपने बच्चेको यदि वह कुछ हैरान करे तो वे सींग मार देते हैं तब समझलो-जो बालक जैसा चाहे मनमानी करता है और उसकी माँ सब ओरसे आंख बन्द करके उसे अपना मानती रहे, यह तो मेरा ही है तो वह मांका मातृत्वका कार्य नहीं है। तो जैसे माता अपने बालको हितका उपदेश करके हितकी आज्ञा देती है और हितके विरुद्ध चले तो उसे दण्ड भी देती है इसी प्रकार भगवान अरहंतदेवके शासनमें जीवोंके उद्धारके लिए तीन व्यवस्थायें हैं —

जिनशासनका अनुशास्तृत्व जिनशासनमें कैसा प्रेम हितका उपदेश भरा हुआ है, कितने कोमल शब्दोंमें भेदविज्ञानके लिए प्रेरणा दी गई है-हे आत्मन्! तू कुछ विराम ले, व्यर्थका कोलाहल मत मचा, कुछ समय स्वयं ही अपने आपमें विश्राम लेकर अनुभव तो कर, यह देह तो पुरानी है और मैं इस देहसे न्यारा हूँ। देख समस्त परपदार्थोंसे जब तेरी आसक्ति हटेगी, अपने आपके स्वरूपकी झांकी होगी तो तुझे ऐसा अद्भुत आनन्द प्रकट होगा कि फिर तुझे किसीसे यह जाननेकी भी जरूरत भी न होगी कि हम कल्याणके लिए क्या काम करें। स्वयं ही अपने आपकी परिणतिसे उत्तर आ जायगा।। इस तरहसे अपने आपमें एक ज्ञाता द्रष्टा रहनेका ही पुरुषार्थ करनेमें कल्याण है। भगवान अरहंतदेवके शासनमें हमें हित ही मिल रहा है और हितकी आज्ञा भी किसी उपदेशको कठोर शब्दोंमें कहनेका ही तो नाम आज्ञा है। यदि तुम ऐसा करोगे, आत्मदृष्टि न करोगे तो देखो-संसारमें रुलोगे। तुम्हें यह करना चाहिए, आज्ञा देते हैं। कोई कुपूत माँकी हितकी आज्ञा न माने तो यह कुपूतकी बात है पर मां हो तो वह हितकी आज्ञा अवश्य देगी।

जिनशासनमें पापशुद्धिविधान-जिनशासनमें हमें हितकी आज्ञा भी है और हितके विरुद्ध चलें तो उसका दन्डविधान भी अरहंतदेवने प्रसिद्ध किया है। तपश्चरण, सामायिक आदि दण्डरूप ही तो हैं। हम विरुद्ध चलते हैं तो उसके लिए उपाय बताया है-तुम विषयोंमें बहुत लगे, तुम्हें अब तपश्चरण करने होंगे तब तुम्हारा विषयोंके लगावका पाप धुलेगा। तो जहाँ मातृत्वके सब गुण भरे हों उसे हम प्रमाता कहें तो क्या हर्ज है? और, तीन लोक अलोकके समस्त पदार्थोंका यथार्थ ज्ञाता ईश्वर प्रमाता है। तो ऐसे प्रमाणसे अर्थात् सर्वज्ञ भगवान अरहंतदेवसे अर्थकी सिद्धि होती है। जिस तत्त्वसे हमारा उपकार होता है उस तत्त्वकी सिद्धि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होती है। और, प्रमाणाभाससे जो कि प्रमाता तो नहीं है, सर्वज्ञ निर्दोष तो नहीं है पर अपने आपको उनके तुल्य मानते हैं उनके अर्थकी सिद्धि नहीं होती है। यह एक प्रभुस्तवनरूप अर्थ निकला।

प्रमाणकी प्रधानताका कारण ग्रन्थमें उपकारी वक्तव्यका संकेत है कि सच्चे ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि होती है और मिथ्या ज्ञानसे अर्थकी सिद्धि नहीं है। इसमें प्रधान प्रमाण है क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, और मोक्षकी प्राप्ति ही समस्त पुरुषार्थोंमें उपकारी है। उत्कृष्ट पुरुषार्थ है मोक्ष मार्गमें लगना। जो बुद्धिमान लोग होते हैं उनका जितना भी प्रयास है वह मोक्षके लिए है। यहाँ भी देखलो जितना भी आपका प्रयास है वह दुःखसे छूटनेके लिए है। सभी मनुष्योंका प्रयास दुःखसे छूटनेके लिए है। सर्व प्रकारके दुःखोंसे छूटनेका जो प्रयास है उसका नाम मोक्षमार्ग है। तो दुःखोंसे छूटनेका उपाय सम्यग्ज्ञान है। जिसका दिमाग सही नहीं है, विवेक नहीं है वह दुःखसे छूटनेके उपायमें लग नहीं सकता। तो सम्यग्ज्ञान प्रधान है, प्रमाण प्रधान है। और, यह भी देख लीजिए कि प्रमाणसे ही यह प्रमाण है या प्रमाण नहीं है इसका निर्णय होता है। प्रमाणाभास किस काममें आता है। प्रमाणाभास न खुदकी प्रधानताका निश्चय कर पाता है। भ्रम करना और बात है, किन्तु प्रमाणसे यह प्रमाण है, यह प्रमाणाभास है इसका निर्णय होता है। इस कारणसे प्रमाण और प्रमाणाभासका निर्णय करना अति आवश्यक है। और, इसी कारणसे इस ग्रन्थमें प्रमाण और प्रमाणाभासका लक्षण कहा जायगा।

ग्रन्थरचनाकी अनावश्यकतापर आशंका – इस समय एक शंका की जा सकती है कि यह तो बतावो कि जो कुछ तुम ग्रन्थमें कहना चाहते हो वह पूर्व शास्त्रोंसे सिद्ध है, निर्णीत है या नहीं? पुराने ऋषियोंने बताया है या नहीं, भगवानके आगममें लिखा है या नहीं? यदि पूर्व शास्त्रोंसे सिद्ध नहीं है तो ऐसी बात आपको कहनी न चाहिए, जो सर्वऋषिसम्मत न हो, जो भगवानकी परम्परासे चला आया हुआ न हो, केवल अपनी रुचिसे कहा गया हो वह तो मिथ्या है। यदि वक्तव्य प्रथमतः सिद्ध है, पूर्वशास्त्रोंसे प्रसिद्ध है तो सिद्ध तो सिद्ध है ही, उसे फिर सिद्ध करनेका प्रयास करना पिसेको पीसनेकी तरह है उसे फिरसे क्यों कहना। जब वह बात सिद्ध हो गयी, सर्वसे सम्मत है, भली प्रकार सिद्ध है तो फिर उसे क्या कहना? इसलिए इस ग्रंथकी रचनाका प्रयास तुम्हारा व्यर्थ है। इसके उत्तरमें तीन विशेषण दिये हैं—"सिद्धं अल्पं लघीयसः"।

ग्रन्थरचनाकी आवश्यकताका वर्णन – इस ग्रन्थमें हम जो कहेंगे वह पूर्वशास्त्रोंसे सिद्ध है इसलिए असिद्ध वाला दोष तुम दे नहीं सकते। और, जो वक्तव्य होगा वह अल्प है और अल्पबुद्धिवालोंके उपकारार्थ है इसलिए सिद्धको पिष्टपेषण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वाला दोष भी तुम दे नहीं सकते। अर्थात् अकलङ्क देवादिक आचार्योंके ग्रंथ बहुत विस्तारसे हैं, जो प्रसिद्ध हैं उस प्रसिद्धको लघु बुद्धिवालोंके लिए अति संक्षेपमें जिससे उनका काम जल्दी बन जाय इस थोड़ेसे जीवनमें, उनके लिए कहा जा रहा है। जो बुद्धिमान जन हैं वे तो इस प्रसिद्धको जानते ही हैं लेकिन जो लघुबुद्धि हैं उन्हें संक्षेपमें चाहिए और भी कुञ्जीरूप। कभी आपने देखा होगा किसी वक्ताके व्याख्यानमें जब बहुत विस्तारका व्याख्यान चलता हो और उस विस्तारमें कोई नवीन नवीन अद्भुत बात न आती हो तो उसके सुननेमें ऊब आने लगती है। और, संक्षेपमें थोड़ा उस वक्तव्यका मर्म बताया जाय तो ऐसे व्याख्यानकी उपयोगिता है। ऐसे ही संक्षेपमें ज्ञानके निर्णयकी बात इस ग्रंथमें कही जायगी इस कारण हमारे ये दोनों दोष ग्रन्थकारके लिए नहीं आते। यह ग्रंथ लघुबुद्धि वाले पुरुषोंके लिए बनाया गया है और यह सिद्ध है। हम अपनी रुचिसे नहीं बना रहे हैं कि जो हमारे दिमागमें आये वैसा ही गढ़ दें, किन्तु जो आगम परम्परासे है, सर्वऋषिसम्मत है उसे ही कहेंगे। यों इस ग्रंथकी रचनाका प्रयास जो अतिलघुबुद्धि जन हैं उनके लिए किया गया है। इस ग्रंथमें सच्चे ज्ञान और मिथ्याज्ञानके निर्णयकी बात कही जायगी जिससे हम यह परीक्षा कर सकें कि ऐसा ज्ञान तो सच्चा ज्ञान होता है और ऐसा ज्ञान मिथ्या ज्ञान हुआ करता है।

प्रमाणके लक्षणका निर्देशन—प्रमाणसे अर्थकी सिद्धि होती है। तो जिस प्रकार अर्थकी सिद्धि हो सके उस प्रकारसे प्रमाणका लक्षण बताना चाहिए। और, वह प्रकार हो सकता है व्यक्तिगत प्रमाणके लक्षणके विवरणसे। अर्थात् अमुक ज्ञानमें यह सच्चाई है, इससे सिद्धि है तो व्यक्ति-व्यक्तिरूपसे प्रमाणके लक्षणकी उसमें अपेक्षा है कल्याणार्थी पुरुषोंको। लेकिन वह व्यक्ति प्रतिव्यक्ति लक्षण एक साधारण लक्षणपर अवलम्बित है। जैसे मनुष्योंमें प्रत्येक मनुष्योंमें अलग-अलग भेदपूर्वक मनुष्य सामान्य जान लेनेके बाद हुआ करता है, मनुष्य सामान्य तो पहिचान लिया जाय फिर मनुष्य विशेषको भी जाना जाय, उनका विवरण किया जाय। तो प्रमाणोंके विशेष लक्षणोंका वर्णन सामान्य वर्णन पूर्वक होगा। तो सर्वप्रथम प्रमाणका सामान्यरूपसे लक्षण करते हैं। इससे पहिले प्रमाणके स्वरूपमें ही विवाद न रहे और उसके आधारपर हम प्रमाणोंके लक्षणोंके विवरणमें सफल हो सकें, एतदर्थ सर्वप्रथम इस ग्रन्थमें प्रमाणके लक्षणका निर्देश करने वाले सूत्रका अवतार होता है।

●

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

वक्तव्यका प्रारम्भ और मंगल आचार—जैसे कभी किसी विशेष अनुराग पात्र गुणी पुरुषसे मिलाप होता है तो उसके गुणोंके अत्यन्त अधिक अनुरागमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसको नमस्कार आदिक करनेरूप व्यवहार क्रियावोंका भी ध्यान नहीं रहता और एकदम गुणोंका दर्शन करके हर्षसे आल्हाद हो जाता है और गुण वर्णनके लिए अपनी किसी गद्‌गद् भाषामें बोल उठता है तो उसका वही मंगलाचरण है। अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा होता है कि मंगलाचरणके बिना ही ग्रन्थ शुरू कर दिया, पर उस प्रारम्भके सूत्रमें कोई गुणकीर्तन या गुणस्मरणका कोई ढंग होता है। जैन तत्त्वार्थसूत्रको एकदम सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः कह कर रच दिया। उसका व्यावहारिक प्रकट मंगलाचरण कोई नहीं है, तो यही सूत्र मंगलाचरणरूप है। किसी भी गुणकी महिमापर दृष्टि पहुँचे इससे और अधिक मंगलाचरण क्या कहलाता है। इसीप्रकार अन्य ग्रन्थोंमें भी जो अन्य दार्शनिकोंके हैं अनेक ग्रन्थोंमें मंगलाचरणके बिना ही सूत्र रचाए हैं। जैसे एक न्यायविवरणसूत्र है उसमें सबसे पहिले यह सूत्र दिया है—"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सकलपुरुषार्थसिद्धिः" अर्थात् समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती है पुरुषार्थका भी चित्रण हो गया उपयोगमें और सम्यग्ज्ञानका भी चित्रण हो गया। यह तो मंगल आचार है। इस सूत्रका अर्थ है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। इस लक्षणके कहनेमें ज्ञानका पूर्णस्वरूप और अनेक विशेषताएँ एकदम उपयोगमें प्रकट हो जाती हैं तो ऐसे सहज ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, प्रमाणभूत ज्ञानका स्तवन करना कीर्तन करना लक्षणाख्यान करना यह सब मंगलाचार है।

सूत्रमें प्रत्येक शब्दकी सार्थकता—इस ग्रन्थमें समस्त वक्तव्यका आधारभूत यह प्रथम सूत्र है। प्रारम्भसे लेकर अन्त तक प्रमाण प्रमाणका ही वर्णन होगा। हैं तो थोड़ेसे ही सूत्र, तत्त्वार्थसूत्रसे आधेसे भी कम सूत्र हैं, चौथाई होंगे, किन्तु इनका वक्तव्य बहुत है। वह वक्तव्य सिद्धान्तके ढंगसे, न्यायके ढंगसे, युक्ति, खण्डन मण्डनके ढंगसे है। प्रमाणका लक्षण कह रहे हैं—जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान हो वह प्रमाण है। इस शब्दयोजनामें बहुत रहस्य भरे हुए हैं। इसमें इतनी बातोंका प्रकाश होता है कि स्वका भी निश्चयात्मक हो, जो ज्ञान जान रहा है पर पदार्थोंको वह ज्ञान अपने ज्ञान स्वरूपका भी निश्चय करने वाला हो। और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला हो वह ज्ञान प्रमाण है। कोई एक चीज, जान रहे हैं वैसी की ही वैसी लगातार जानते रहें, उसमें कुछ अपूर्वताकी बात न आये तो ऐसे ज्ञानको एक धारावाही ज्ञान कहते हैं, वह भी प्रमाण कोटिमें नहीं है। जो स्व और अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक हो वह ज्ञान प्रमाण है।

सयुक्तिक शैलीसे प्रमाणस्वरूपकी सिद्धि—अब चूँकि यह न्याय शास्त्रका ग्रन्थ है तो इसमें कुछ भी बात न्यायशास्त्रके ढंगसे ही कहनी चाहिए। तो यही सीधी बात है, इसे अगर युक्तियोंसे संक्षिप्त शब्दोंमें कहें तो यों कहना होगा कि स्वापूर्वव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण हैं अन्यथा प्रमाणता बन नहीं सकती यह युक्ति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बन गयी। न्यायशास्त्रमें हेतुकी प्रधानता होती है, इसमें हेतु देकर युक्ति लेकर बात बोलनेकी प्रधानता है। सिद्धान्तकी बात कही जाय उसे यदि हेतुके शृङ्गारसे सजा कर कहा जाय तो वह दार्शनिक शैली हो जाती है। सिद्धान्त शैली और दार्शनिक शैलीमें यह अन्तर है। या यों कहलो कि बूढ़े बुजुर्गोंकी बातमें और जवानोंकी बातमें इस ढंगका अन्तर है। स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है क्योंकि प्रमाण होनेसे इतना इसका अनुमान बना। जो जो स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक न हो वह प्रमाण नहीं होता। इस कारण प्रमाणका लक्षण स्व अपूर्व अर्थका व्यवसायात्मक ज्ञान ही कहना चाहिए।

प्रमाणमें स्वव्यवसायात्मकता—इस प्रसंगमें जो स्व शब्द दिया है इसका अर्थ आत्मा न लेना कि ऐसा अर्थ करने लगो कि जो आत्माका और परपदार्थोंका निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह प्रमाण है। दार्शनिक शैलीमें और प्रमाणके इन लक्षणोंमें अभी यह बात नहीं कही गयी। यहाँ पर "पर" शब्द दिया ही नहीं गया। स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। चाहे आत्माका निश्चय करने वाला हो चाहे पर पदार्थोंका निश्चय करने वाला हो सब अपूर्व अर्थमें सम्मिलित हैं, उनका ज्ञान प्रमाण है। तब स्व शब्दसे ज्ञानका स्व लेना। जो जानने वाला ज्ञान है वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता है। मैं सत्य हूँ और पदार्थकी जानकारीका भी निश्चय करता हूँ कि यह पदार्थ इस प्रकार है। अथवा ज्ञान व आत्मामें अभेद है इस कारण स्व शब्दसे आत्माका ग्रहण हो ही जाता है।

ज्ञानकी प्रमाणताका निरूपण—परिमितवादियोंके जितने भी शब्द निकलते हैं उन शब्दोंमें रहस्य और अन्यका व्यवच्छेद पड़ा हुआ होता है। जिस शब्दके कहे बिना काम नहीं चल सकता उस ही शब्दको बुद्धिमान लोग कहते हैं। फालतू बात कहनेकी प्रतिष्ठा नहीं है। तो इस लक्षणमें स्व, अपूव, अर्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान ये ५ शब्द दिए गए हैं प्रमाणके लक्षणमें। और, इन ५ शब्दोंमें बहुत-बहुत दार्शनिक रहस्य भरे हैं। प्रथम तो ज्ञान शब्दको ही लीजिए। ज्ञान प्रमाण है यह कहनेकी क्या जरूरत पड़ी है। क्या कोई दार्शनिक ज्ञानको छोड़कर अन्य चीजोंको भी प्रमाण मानते हैं? हाँ मानते हैं। ऐसे भी दार्शनिक हैं जो ज्ञानको प्रमाण न कहकर ज्ञानातिरिक्त पदार्थोंको, अज्ञानको प्रमाण कहते हैं। यह बात एकदम सीधा कहनेमें चाहे समझनेमें न आये जल्दी कि ऐसे कौनसे दार्शनिक होंगे जो ज्ञानको छोड़कर अज्ञानको भी प्रमाण मानें, दर्शनक्षेत्रमें उतरनेपर यह सब विदित हो जाता है।

कारकसाकल्यकी प्रमाणताका पक्ष—एक दार्शनिक है—कारकसाकल्यवादी। उसके सिद्धान्तमें कारकसाकल्य प्रमाण है। कारकसाकल्यका अर्थ यह है कि जैसे हमारे व्यवहार ज्ञानमें जिन-जिन साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है जैसे प्रदीपकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जरूरत पड़े, इन्द्रियकी जरूरत पड़े, किसी साधनकी जरूरत पड़े, लोकके समागमकी आवश्यकता पड़े पुस्तककी जरूरत पड़े, मास्टरकी जरूरत पड़े, इन सबका जो जुड़ाव है, मिल जाना है वह प्रमाण है। इसमें ज्ञानकी बात नहीं कही गयी है। मोटी दृष्टिसे व्यवहारभाषामें व्यवहारी जनोंको यह बात कुछ ठीकसी लगती है यह ही तो प्रमाण है। कारकसाकल्य प्रमाण न हो तो यह बात कैसे बने कि यह जरूर सही रखी हुई है यह प्रकाश आदिक सब पदार्थोंका जो जुड़ाव है वह प्रमाण है। कोई यदि उनसे यों प्रश्न करे यों तो सारी जरूरतें पड़ी हैं दुनियाँमें। क्या हमारे प्रमाणमें ये सब प्रमाण आते हैं? तो उनका कहना है कि नहीं, जरूरत अवश्य है, जिसमें अव्यभिचारता है. जिसमें अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव आदिक कुछ दोष नहीं हैं, संशय आदिक जिसमें कुछ ऐब नहीं हैं ऐसे साधनोंका जो जुड़ाव है वह प्रमाण है। लो अब तो प्रमाणताकी एक और छाप लगा दी।

कारकसाकल्यके मंतव्यमें ज्ञानकी अदृष्टि—कारकसाकल्यकी प्रमाणताके मन्तव्यमें यहाँ यह विचार कीजिए कि इस दार्शनिकका ज्ञान पर प्रभाव नहीं है और इसमें यह हेतु दिया है कि कारकसाकल्य प्रमाण है क्योंकि साधकतम होनेसे। साधनोंमें जो खास-खास साधन हैं, जिनके बिना काम नहीं चलता उन्हें कहते हैं साधकतम। प्रकाश बिना, इन्द्रिय बिना, समागम बिना, ग्रन्थ बिना प्रमाण नहीं होता, तो यह साधकतम है। घड़ी देखे बिना समयका ज्ञान नहीं होता तो घड़ी भी प्रमाण है। देखिये यह सब सुननेमें बहुत सुहावना लगता है। यह सब प्रमाण ही तो है। किन्तु, प्रमाण तो ज्ञान ही होता है। भैया! कुछ लोग कारकसाकल्यको ही ज्ञान कहते हैं साधकतम होनेसे। सो ये कारकसाकल्यमें कारकोंको प्रमाण मानते हैं। कारकसाकल्यवादी जन कारकोंको विषय करके जो जानकारी बनती है उस जानकारीको प्रमाण नहीं कह रहे।

अज्ञानरूप कारकसाकल्यमें प्रमाणताकी अनुपपत्ति—यदि भिन्न कारकोंके समूहको प्रमाण मान लेंगे तो इसका अर्थ है कि ये ही सब जानने वाले हो गए। तो यह कारकसाकल्य अज्ञानरूप है। अज्ञानरूप कारकोंका समूह स्व और परके जाननेमें साधन नहीं बन सकता। जैसे ये प्रमेय पदार्थ पड़े हैं, ये अज्ञानरूप हैं, ये जानकारीके साक्षात् साधकतम नहीं बन सकते इसी प्रकार कितने भी हेर फेरसे कारक इकट्ठे कर लिए जायें तो भी इनमें प्रमाणता नहीं आती। प्रमाणता ज्ञानमें ही होती है। जाननेमें साधकतम कारकसाकल्य नहीं है, ज्ञान ही है। जाननेमें साधकतम ज्ञानी ही है, पदार्थ नहीं है यह छांट की जा रही है हमारे किसी भी जाननेमें १०-२० पदार्थ विषयभूत होते हैं और उनमेंसे कम रह जायें तो जानना भी नहीं बनता। प्रकाश न हो जानना न बनेगा, आंखें न हों ठीक तो जानना न बनेगा, इतने पर भी आंखें प्रमाण नहीं हैं। प्रकाश प्रमाण नहीं है। कारकोंका ढेर प्रमाण नहीं है, किन्तु यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञान ज्योति प्रमाण है। जो जाननेकी क्रियामें साधकतम हो याने खास साधन हो, अनिवार्य साधन हो वह प्रमाण होता है।

प्रमाणमें ज्ञानकी ही साधकता—यहाँ एक चर्चा उपस्थित हुई है कि साधकतमको तुम प्रमाण मानते हो तो कोई पुरुष कुल्हाड़ीसे लकड़ी काट रहा है तो लकड़ी काटनेका साधन है कुल्हाड़ी। जिसके द्वारा लकड़ी काटी जाय वही तो साधकतम है काटनेका। साधकतम कहते हैं करणको। जो साधकतम हो वह प्रमाण है इस पर कोई कहे कि वाह, जाननेमें साधकतम तो एक प्रकाश है तो फिर प्रकाश प्रमाण हो जायगा क्या? कहते हैं—"नहीं"। प्रकाश जाननेमें साधकतम नहीं है। जाननेमें साधकतम तो ज्ञान ही है, पर कारकसमूह निमित्त है इसलिए उपचारसे कारकसाकल्यको साधकतम कहते हैं।

साक्षात् साधकतममें साधकत्वकी प्रतिष्ठा—भैया! तुमने हमने जो कुछ जांना। साधारण लोग तो यह कहेंगे—वाह, प्रकाशके ही द्वारा तो जाना, न प्रकाश हो तो हम जानें कैसे। पर जरा अन्तर्दृष्टिसे निहारो—प्रकाशके द्वारा हमने नहीं जाना, ज्ञानके द्वारा हमने जाना। प्रकाश तो एक कारण पड़ गया हमारे जाननेमें, पर ऐसे अनेक कारणोंको यदि हम साधकतम मानने लगें तो बड़ा घपला हो जायगा। एक पेन्सिल चाकूसे आपने बनाया तो पेन्सिल बनानेका साधक है चाकू, हम कहें—नहीं जो लोहार है, लोहार न होता तो चाकू न बनती। कोई कहे नहीं लोहार भी नहीं है, वह मालिक साधन है जिसके घरमें वह लोहार रहता था। यदि वह मालिक अपने घरमें बैठनेको जगह न देता तो वह लोहार कैसे कहाँ बैठकर चाकू बनाता! तो यों तो पचासों घपले हो जायेंगे। जो साक्षात् साधक हो, जिसमें दूसरेका व्यवधान न आये वह साधकतम माना जाता है। चाकूसे पेन्सिल बनानेरूप कार्यमें साक्षात् साधन चाकू है लोहारका चाकू क्रियासे व्यवधान है। तो ऐसे ही प्रकाश उपचार साधन है साक्षात् नहीं। व्यवहारसेही इसे साधन कहते हैं। न हों ये प्रकाश आदिक तो छद्मस्थ अवस्थामें इन्द्रियजन्य ज्ञान वाले ज्ञान नहीं कर सकते। लेकिन साक्षात् साधकतम ज्ञान है वह ज्ञान ही सामान्यरूपसे प्रमाण है। जानने वाला ज्ञान है। इसके द्वारा जाना गया यह भी क्यों कहें—जानने वाला खुद ही यह है और वही प्रमाण है।

प्रमाणमें ज्ञानकी ही साक्षात् साधकतमता—कोई यह कहे कि प्रकाश उपचारसे प्रमाण तो हो गया ना व्यवहारसे, तो अज्ञानरूप भी तो चीज प्रमाण हो गयी। उपचारसे इन सब साधनोंका जुटाव जिन साधनोंसे ज्ञान बनता है, ज्ञान जागृत होता है वे सब साधन उपचारसे प्रमाण हैं, साक्षात् प्रमाण नहीं हैं। तो मुख्यरूपसे तो स्व और परपदार्थोंके परिच्छेदनमें साधकतम ज्ञान ही है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है। इस सूत्रमें जो 'ज्ञानं प्रमाणं' बताया है तो ज्ञानं शब्दकी ही विशेषता कही जा रही है कि कुछ लोग अज्ञानको ही प्रमाण कहते हैं। सूत्र बहुत कम शब्दोंमें बनाया जाता है। और, उन प्रत्येक शब्दोंमें यह शंका की जा सकती है कि यदि यह शब्द न दें तो क्या बिगड़ा है, क्या तुम्हारा काम न चलेगा? उसका समुचित उत्तर होना चाहिए कि इस शब्दके न देनेपर यह वक्तव्य प्रकट नहीं हो सकता या यह आशय सिद्ध नहीं हो सकता है। तो ज्ञानं प्रमाणं ऐसा कहनेमें अज्ञानरूप जितने भी प्रमाण माने गए हैं अन्य दार्शनिकोंके द्वारा उन सबका निवारण होता है।

उपचार साधनमें साधकतमत्वकी असम्भावना निमित्त कारणमें कार्यका उपचार करनेसे आप जो चाहे कह दीजिए। यों तो यह भी कहा जाता है कि अन्न हमारा प्राण है। ये गेहूँ वगैरह जो बोरेमें भरे जाते हैं ये हमारे प्राण हैं क्या? इन अन्नोंको न खायें तो कैसे हमारे प्राण रहेंगे, इस कारण कहा जाता है कि अन्न हमारा प्राण है। अन्नकी बात छोड़ो कोई बड़ी विभूति है, मकान है, जायदाद है तो लोग कहते हैं कि यह जायदाद हमारा प्राण है, यह हम दूसरोंको दे दें तो कैसे हम जिन्दा रहेंगे। तो ये ईंट पत्थरके मकान भी प्रमाण कह दिये जायें तो उपचारका फिर कोई ठिकाना है क्या? उपचारसे कही हुई बात साक्षात् युक्त तो नहीं होती। उड़द रखे हैं तो कोई कहे कि यह तो सीधा बातरोग है। बातरोगमें उड़दकी दाल न खाना चाहिए। और छिलका रहित उड़दकी दाल तो अत्यन्त नुकसान करती है। कोई कहे कि सीधा बातरोग धरा है तो क्या यह बात ठीक है? वातरोग तो शरीरमें होता है, तो उपचारकी बातें बहुत-बहुत व्यवधानोंकी हुआ करती हैं, पर जो किसी कार्यमें साक्षात् साधन हो वह उस कार्यमें साधकतम करण माना जाता है। लोग तो यों भी कह बैठते हैं कि मेरी आंख तो यह पुरुष है, मेरी आंख तो ये बच्चे हैं जो अपनेको आराममें रखते हैं, यों उपचारसे कहनेका तो बहुत बड़ा विस्तार है, पर प्रतिष्ठा है साधकतमकी जो साक्षात् कारण हो। तो प्रमाणका साक्षात् कारण ज्ञान है, कारकसाकल्य नहीं। इस तरह ज्ञानं प्रमाणं कहकर अज्ञान प्रमाण न हो जाय इस बातका ध्यान रखा गया है।

ज्ञानके प्रमाणत्वका निरूपण - इस ग्रंथमें सर्वप्रथम प्रमाणताका लक्षण कहा है। जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान है वह प्रमाण है। इसमें स्व, अपूर्व, अर्थ, व्यवसायात्मक और ज्ञान ये ५ शब्द दिये हैं जिनमेंसे इस समय ज्ञान शब्दपर ही व्यवच्छेद प्रधान विवरण चल रहा है। ज्ञानं शब्द न देते तो क्या आपत्ति थी? स्व व अपूर्व अर्थका जो निश्चय कराये वह प्रमाण है. इतना ही यदि कहते तो ऐसी स्थितिमें कारकसाकल्य वादीके, अर्थात् जो साधन, विषय व निमित्तके समूहको ही प्रमाण मानते हैं, उनके इस अभिमतको प्रमाण मान लिया जाता इसी प्रकार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अन्य अन्य ज्ञानातिरिक्त स्थितियोंको प्रमाण मान लिया जाता। प्रमाण तो ज्ञान है। उसमें भले ही किसी स्थितिमें अन्य साधन हों, अन्य निमित्त हों फिर भी प्रमाण ज्ञान ही होता है, अचेतन प्रमाण नहीं होते।

उपचारमें स्वरूपनिबन्धताका अभाव—बाह्य साधन और निमित्त परिच्छेदन क्रियामें व्यवहित कारण हैं। जैसे प्रमाण तो है साक्षात् ज्ञान याने प्रमाणका साधकतम है ज्ञान और उस ज्ञानमें निमित्त आदि दृष्टियोंसे, विषयकी दृष्टिसे पदार्थ भी हुए, इन्द्रियां भी हुई बाह्य साधन, लेकिन वे व्यवहित हैं व्यवहित साधनको साक्षात् साधन नहीं कहा जा सकता। उपचारसे साधन कह लीजिए, पर उपचारसे जिसे हम साधन कहते हैं वह परमार्थसे साधन नहीं बन सकता। जैसे अन्न हमारा प्राण है, यह उड़द बातरोग है यों अनेक व्यपदेश चलते हैं पर परमार्थसे तो यह बात नहीं हुई। बोरेमें जो उड़द भरे हैं क्या वे सब वातरोग भरे हैं? उन बोरोंमें जो भी अन्न पड़े हैं क्या वें मनुष्यके प्राण हैं? उपचारका अर्थ उपचार तक ही है। उपचारकी बात परमार्थसे युक्त नहीं मानी जा सकती।

लिखितमें प्रमाणत्वकी उपचारता—नैयायिक वैशेषिकोंने प्रमाणके सम्बन्धमें कहा है कि प्रमाण कुछ ज्ञानरूप भी होता कुछ अज्ञानरूप भी होता! सो बोधाबोधात्मक प्रमाण तीन प्रकारोंमें व्यवहृत होता है। वे प्रमाण ये तीन हैं—लिखा हुआ प्रमाण, गवाह प्रमाण और भोगना प्रमाण अर्थात् कब्जा प्रमाण। लिखित हो, गवाह हो या जो कब्जामें हो अर्थात् जो भोगा जा रहा हो सो प्रमाण हैं ये भी बात सही नहीं हैं। लिखा हुआ होने पर भी जो लिखित स्याही है, अक्षर है, रूपक है वह प्रमाण नहीं है, उसका निमित्त पाकर उसको विषय बनाकर उससे जो बोध किया वह ज्ञान प्रमाण हुआ। कहीं लिखा हुआ दस्तावेज प्रमाण नहीं है। व्यवहारसे कहते हैं लोग लेकिन परमार्थ दृष्टिसे वस्तुके स्वरूपका विचार होता है। क्या ये लिखे हुए अक्षर प्रमाण हैं? इन लिखे हुए अक्षरोंके वाचनसे जो एक ज्ञान बना, जो कुछ भाव आया वह ज्ञान प्रमाणरूप है। नहीं तो लिखित एक ही वाक्यमें कोई कुछ अर्थ लगाता कोई कुछ। खींचातानी करके जो अक्षर ताना जाता यह बात फिर न बनती। अगर लिखित ही प्रमाण है तो वह अपनी एक ही ज्योति प्रकट करता। सो प्रमाण तो ज्ञान ही हैं जो प्रकटरूपसे जाना जाय उसे प्रमाण कहते हैं, अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदिक दोषोंसे रहित जो ज्ञान है उसे प्रमाण कहते हैं। ज्ञान एक सामान्य शब्द है। यदि उस ज्ञानको ही इस दृष्टिसे निरखा जाय कि ज्ञान तो वही है जहाँ कोई द्वेष न हो उस ही ज्ञानका नाम प्रमाण है।

साक्षी और भुक्तिमें प्रमाणत्वकी उपचारता—गवाहको भी व्यवहारमें प्रमाण माना गया। वह गवाह भी साधकतम जो ज्ञान है उस ज्ञानका हेतु होनेसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रमाण माना है वह साक्षात् प्रमाण नहीं है। जैसे लिखित निबन्ध ज्ञानका हेतु होनेसे प्रमाण है इसी प्रकार गवाहके वचनोंको सुनकर यथार्थ बोध हो तो वह बोध प्रमाण है। सो यह साक्षी भी उपचार प्रमाण है। इसी तरह कब्जेकी बात है। अधिकार भोगना यह तो बाह्यमें अचेतन पदार्थरूप है और अन्दरमें विकल्प रूप है। प्रमाण तो एक जो ज्ञप्ति क्रियाका साधकतम है, जानकारीके प्रकाशरूप है वह ज्ञानप्रमाण कहा गया है अर्थात् ज्ञान ही अनुपचरित प्रमाण है।

व्यवहित कारणोंमें विवक्षित क्रियाकी असाधकतमता ज्ञानके अतिरिक्त अन्य जितनी भी अभी बातें बतायी गयी थीं कि भाई प्रकाश भी प्रमाण है, इन्द्रिय प्रमाण हैं, यह समस्त पदार्थोंका समूह प्रमाण है। तो वह सब एक व्यवहित बात है। इस उपचार साधनकी बातको एक युक्ति द्वारा सोचें। जो जिस कार्यमें दूसरेके द्वारा व्यवहित हो वह उस कार्यमें मुख्यरूपसे साधकतम नहीं बन सकता, जैसे चाकूसे पेन्सिल छीली तो पेन्सिल छीलनेरूप कार्यमें साक्षात् साधक चाकू है। कोई कहे वाह लोहार भी तो साधक है। लोहारने चाकू न बनाया होता तो पेन्सिल कहाँसे छिलती? तो लोहार व्यवहित साधन है अर्थात् छीलन क्रियामें साक्षात् साधन जो चाकू है वह व्यवधानसे है, लोहार उसके बादकी चीज है। वह चाकूके बनानेमें साधकतम है। जो जिस कार्यमें दूसरेसे व्यवहित है वह उस कार्यमें मुख्य रूपसे साधकतम नहीं हो सकता। स्व और परके जाननेमें यह कारकोंका समूह ज्ञानसे व्यवहित है अर्थात् स्व और परके परिच्छेदरूप क्रियामें, जाननरूप क्रियामें साक्षात् साधन तो है ज्ञान और फिर उस ज्ञानमें विषय अथवा साधन अन्य-अन्य पदार्थ भी पड़े हैं। तो वे सब पदार्थ व्यवहित हैं, दूर के हैं, साक्षात् साधकरूप नहीं हैं इस कारण ज्ञान ही प्रमाण है। कारकसाकल्य प्रमाण नहीं है। कारकसाकल्यका अर्थ है सर्व पदार्थोंका समूह, समग्रता

कारकसाकल्यके स्वरूपनिर्णयके विकल्प—अब थोड़ा स्वरूप दृष्टिसे भी विचार करें कि जिस कारकसाकल्यको तुम प्रमाण कहना चाहते हो वह स्वरूपसे कुछ व्यवस्थित है या नहीं? यदि वह स्वरूपसे ही व्यवस्थित नहीं अर्थात् उसका कोई सत्त्व ही नहीं तो फिर उसके सम्बन्धमें प्रमाणकी व्यवस्था करना और कुछ सोचना व्यर्थ सी बात है। स्वरूपसे प्रसिद्ध हो तभी तो उसमें प्रमाणपनेकी व्यवस्था करिये। स्वरूप प्रसिद्ध हुए बिना प्रमाण व्यवस्था करने लगे तो जिस चाहेकी व्यवस्था करने लगें, खरविषाण, बंध्यातनय, आकाशपुष्पादिककी स्वरूपसे प्रसिद्धि हो तभी प्रमाणपनेकी व्यवस्था हो सकती है, जिसके लिए तुम प्रमाण कह रहे हो, तो अब कारकसाकल्यका स्वरूप बताइये। क्या चीज है कारकसाकल्य? क्या समस्त कारकोंका ही नाम कारकसाकल्य है? अर्थात् विषयभूत पदार्थ, साधनभूत इन्द्रिय प्रकाश आदिक क्या इन सब पदार्थोंका ही नाम कारकसाकल्य है या इनका जो धर्म है उसका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नाम कारकसाकल्य है, या इन पदार्थोंका जो कार्य है उसका नाम कारकसाकल्य है, या इन तीनोंसे कुछ अलग चीज है कारकसाकल्य ? इन चार विकल्पोंके माध्यमसे कारकसाकल्यका स्वरूप बतलायो क्या है ?

कारकोंमें कारकस्वरूपके साकल्यका अभाव—यदि समस्त कारकोंका ही नाम कारकसाकल्य है तो कारक तो कर्तारूप हैं या कर्मरूप हैं प्रमाणके साधकतम तो नहीं, सो यह कारकसाकल्य या तो कर्तारूप मानो या कर्मरूप मानो। यदि करणरूप मानते हो वे कर्ताकर्मरूप नहीं रहे। कारक प्रमाण हैं तो, क्या कर्तारूपमें आकर प्रमाण बनते हैं या कर्मरूपमें आकर प्रमाण हैं या करणरूपमें आकर प्रमाण हैं। तो ये समग्र पदार्थ कर्ताकर्मरूप माने गए हैं कारकसाकल्यवादीके भी सिद्धान्तमें तिसपर भी वे करण माने गये हैं तो प्रमाण तो जो जाननेमें साधकतम हो सो है। करण मान लें तो कर्ता कर्म नहीं रहता, कर्ता कर्म मानें तो करण नहीं रहता, अर्थात् ये समग्र पदार्थ स्वतंत्र हैं अपनी क्रियाके परिणमनमें अथवा ज्ञान करनेकी इच्छा होना और प्रयत्न करना इनकी जिसमें आधारता है, वही तो कर्ता हुआ करता है। जिसमें ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्न इन तीनका आधारपना होता है वही तो कर्ता माना गया है तथा जो विषयभूत है निर्वर्त्य है वह कर्म माना गया है। यों वे कर्ता कर्म हो गए तो करणपनेका विरोध है। साधकतम नहीं हो सकता। साधकतम हुए बिना व्यवस्था नहीं। अगर कहें कि करण है तो कर्ता कर्म नहीं रहे क्योंकि करण मान लिया, एक पदार्थमें एक कामके लिये तीनोंका परस्परमें विरोध है। और सीधी बात यह देखिये कि प्रधान क्रियाका अनाधार हुआ करता है करण। सर्वत्र जितने भी काम होते हैं वे किसके द्वारा किए गए, इसका जो उत्तर हो वह क्रियाका आधार नहीं होता। वह साधकतम रहे तो जो भी एक अपेक्षारहित होकर जिसे भी करण माना गया, साधकतम माना गया वह क्रियाका आधार होगा। इस कारणसे कारकसाकल्यका भी कोई स्वरूप नहीं बना कारकोंके रूपमें। ये पदार्थ ही कारकसाकल्य नहीं हुए।

कारकधर्मको कारकसाकल्य माननेकी अनुपपत्ति— अब यदि दूसरी बात आप स्वीकार करें कि इन पदार्थोंका जो धर्म है वह कारकसाकल्य है, तो देखिये है तो एक सीधी सी बात कि ज्ञान प्रमाण है किन्तु इतनी सी बात न मानने पर और इससे अधिक चतुराई छांटनेका प्रयत्न करनेमें कितने विकल्प और उलझन करने पड़े! किसी समयमें दर्शन क्षेत्रमें किसी तत्त्वकी बारीकी निकालनेका प्रयत्न करना एक जोर शोरसे हो रहा होगा, और अधिक बारीकीमें जानेपर कुछ अपनी कल्पित बुद्धिके अनुसार कल्पनासे उस लेनसे अलग भी हो सकते हैं। तो जब कोई स्याद्वादका आश्रय लिया नहीं और उसकी बारीकीमें घुसने लगे तो जिस ओर बुद्धि चली उस ओर ही एकान्त हुआ और अधिकसे अधिक गहराई तक जानेका यत्न किया, फल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह हुआ कि जो एक माध्यम है, साधारण सी बात है उस बातसे भी अलग हो सकते हैं और हुए हैं। यहाँ तो एक बहुत मोटी दृष्टिसे कारकसाकल्य कहा गया था जैसे लोग एकदम प्रकट कह देते हैं कि लो यह है लिखा हुआ प्रमाण, लो यह है हमारा गवाह, यह तो है प्रमाण ? इन शब्दोंसे कोई व्यवहारिक अर्थमें अड़चन नहीं होती। लोग बोला करते हैं। यह है कब्जा प्रमाण, यह है भोगना प्रमाण। तो वह एक प्रमाणके, ज्ञानके, स्वरूपके खजानेमें मोटी दृष्टिकी बात है, पर ऐसा कोई कह देवे एक बार और उसे सिद्ध करें तो फिर उसका सिलसिला उसको सिद्ध करनेका ही चलने लगता है। जब कल्याणभावना नहीं होती और एक बात कोई मुखसे निकल गयी तब तो वहाँ यह पड़ता है कि हमारी बात न गिरे। यों कारकसाकल्यके बारेमें भी अनेक पृष्ठोंमें उनके कर्ता बड़े निबन्ध लिख गए।

कारकोंके संयोगको प्रमाणभूत कारकसाकल्य माननेपर आपत्ति — यहाँ यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि कारकसाकल्य क्या चीज है ? कारकोंका नाम तो कारकसाकल्य है नहीं, और कारकोंका धर्म यदि कारकसाकल्य बताया तो ,धर्म भी क्या है ? उन पदार्थोंका संयोग होना यही धर्म है कारकसाकल्य या कुछ इनसे भिन्न चीज है ? सब पदार्थ जुड़ गए, सामने आ गए, प्रमाण होने लगा, व्यवहारमें मजबूती आयी, जानकारी आयी तो सब पदार्थोंका संयोग हुआ, यही कारकसाकल्य है क्या ? अथवा इससे कोई भिन्न चीज है ? संयोग नहीं पड़ा है ऐसी कोई चीज कारकसाकल्य है क्या ? यदि संयोगकी बात कहते हो तो इस विषय पर तो बहुत वक्तव्य है, यह एक जुदा ही विषय है, संयोग नामक कोई तत्त्व है क्या ? संयोग कोई चीज है क्या ? किस प्रकार है, किसका धर्म है इस सम्बन्धमें अलगसे ही इसी ग्रंथमें आगे आयगा।

कारकसाकल्यमें कारकोंकी असंयुक्तताको धर्म माननेपर विडम्बना — संयोगसे भिन्न और कुछ कारकोंका धर्म हो तो इसका अर्थ है कि वह संयोगमें नहीं है, जुदा–जुदा है, अलग–अलग पदार्थ पड़े हैं। अलग–अलग पदार्थ पड़े हों उसका नाम तो साकल्य नहीं है, समग्रता नहीं है। अलग–अलग पदार्थोंमें भी प्रमाण माना गया तो इसमें तो बहुत अटपटी बात माननी पड़ेगी। पदार्थ बहुत पड़े हुए हैं न्यारे–न्यारे क्षेत्रमें। वे प्रमाण बन गए तो जितनी भी प्रमाणताका उनमें सामर्थ्य है उन सबको एक साथ बता दें ये पदार्थ। यह क्या बात है कि हम उतने पदार्थोंको निरखकर किसी एक ज्ञानमें आते हैं, जो आशय हो, जो प्रमाण हो, जैसी दृष्टि जगे उस ओर का हमारे में प्रमाण बनता है। पदार्थ ही अगर प्रमाण बन गए तो पदार्थ जितने प्रमाणके कारण बन सकते हैं उन पदार्थोंसे सारे ही प्रमाण एक साथ निकलना चाहिए और निकल आये तो प्रमाण कुछ रहेगा नहीं। जब प्रमाणका एक मिश्रण हो गया तो फिर प्रमाण क्या रहा। किसीकी चीजको गुमाना हो तो अनेक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनेक चीजोंमें मिश्रण कर दीजिए, वस्तु ही गुम हो जायगी। तो कारकसाकल्य क्या चीज है, कहाँ खोजा गया, यह शब्द। बात तो सीधी सी थी कि हमारे ज्ञानमें ये बाह्य पदार्थ आते हैं। और कुछ बाह्य पदार्थ साधक बनते हैं तो उनको हम व्यवहारमें प्रमाणरूप मानते हैं। वस्तु बिना हम कैसे जानें, प्रमाण क्या करें ? यो कोई कर्म बनता है। कोई विषय बनता है, कोई साधक बनता है, कोई बाह्य निमित्त बनता है, कुछ अन्तरङ्ग निमित्त बनता है, यह सब है, पर यह साक्षात् प्रमाण हो एसी बात नहीं है। प्रमाण तो सम्यग्ज्ञान ही हो सकता है। तो यह भी बात तुम्हारी युक्त नहीं रही कि कारकोंका जो धर्म है वह प्रमाण है क्योंकि वह न संयोग रूप है न असंयोग रूप है।

कारकोंके कल्पित धर्मके बारेमें प्रष्टव्य विकल्प--खैर कारकोंका साकल्य किसी भी रूप धर्म हो, पर यह तो बतावो कि वह धर्म कारकोंसे भिन्न है या अभिन्न ? स्याद्वादमें जो एक विशद ज्ञान होता है उसका कारण यह है कि ज्ञाता किसी भी तत्त्वको एक झलकमें झांक लेता है पर उसका जब प्रतिपादन करते हैं तो प्रतिपादन स्याद्वादके बिना अशक्य है। उसको किसी भी धर्मसे कह लेंगे और प्रतिपक्ष अन्य अपेक्षाओंसे और जो-जो कुछ ज्ञानमें आया है उन सबकी अपेक्षा तोड़ दें और केवल एक ही धर्मका एकान्त करके चलें तो यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता। इसी कारण स्याद्वादमें सबका समाधान भरा हुआ है। और इस शैलीसे च्युत होने पर समाधान प्राप्त नहीं होता। वह तुम्हारा धर्म कारकोंका कारकोंसे जुदा है या अभिन्न है ? यह कहा जा रहा हैं कारकसाकल्यवादियोंसे कि यदि कारकोंसे जुदा है वह धर्म कारकसाकल्य कारकोंसे यदि अभिन्न है तब तो या कारक हुआ या धर्म हुआ, तत्त्व क्या निकला यदि कारकधर्म कारकसे भिन्न है जो कि प्रमाणभूत माना गया है, जो जुदा जब हो गया तो धर्म अलग पड़ा और कारक अलग पड़े। अंगुलीका जो भी धर्म है वह अंगुलीसे जुदा है इसका अर्थ क्या है ? जुदा कहाँ है वह धर्म और किस रूप है ? क्या वह सत् स्वरूप नहीं है ? कुछ भी जुदा नहीं है फिर भी जुदा माननेकी हठ करे तो दो सत्त्व हो गये—एक धर्म हो गया और एक अंगुली हो गयी। दो सत्त्व न्यारे-न्यारे हो गए। अंगुलीके रूप, रस, गध, स्पर्श, शक्ति जो भी धर्म माना जाय उसके बिना यह अंगुली रह गयी तो अंगुली क्या ? और अंगुलीके आधार बिना वे रूपादिक धर्म रह गए तो वे क्या। तो कारकोंका धर्म यदि कारकोंसे जुदा है, उन पदार्थोंसे भिन्न है, तो या तो धर्म रह गए या कारक रह गए, कारकोंका व धर्मका कुछ सम्बन्ध ही नहीं रहा। अत्यन्त भिन्नोंका यदि सम्बन्ध जुड़ेगा तो सम्बन्ध किस तरह जुड़ गया ? उस सम्बन्धमें अनेक विकल्प होंगे और उनका स्वयं यह समाधान पावोगे कि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध एक जगह है या अनतिदूर है इतनेसे अधिक उनका कोई अर्थ नहीं है। तो जब वे धर्म और कारक भिन्न-भिन्न हुए तो उनका सम्बन्ध नहीं बनता। तो कारकोंका धर्म कारकसाकल्य है यह बात सिद्ध नहीं होती।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कारककार्यको प्रमाण माननेकी अनुपपत्ति—यदि कारकोंके कार्यको कारकसाकल्य कहते हो तो इस सम्बन्धमें तुम्हारा मानना यह हुआ कि प्रमाणकी उत्पत्ति पदार्थकी ओरसे हुई। तो पदार्थ तो सदैव परिपूर्ण है। सारे प्रमाण एक साथ बनने चाहिएँ। फिर प्रमाण कुछ नहीं रहा। सीधी सी बात एक ज्ञान प्रमाण है इतना ही न माननेपर कितनी कितनी उलझनें और बातें सोचनी पड़ी हैं। उन सबका कष्ट छोड़कर सीधा यह मान लें कि जो हितकी प्राप्ति कराये अहितका परिहार कराये ऐसा जो ज्ञान है वह प्रमाण हैं। सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है इस बातको सबसे पहिले कह रहे हैं प्रमाणकी परीक्षा इस ग्रंथमें की जायगी कि कौन सा प्रमाण दोषसे सहित है व कौन सा प्रमाण दोषोंसे मुक्त है, क्योंकि प्रमाणके आधार पर ही गुण और मोक्षकी व्यवस्था बनती है।

कारकोंके कार्यरूप कारकसाकल्यके विकल्पका विचार—सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रकरणमें एक दार्शनिकने यह बात रखी कि प्रमाण तो सब पदार्थ जुड़ जायें, वह सामग्री प्रमाण है। उन पदार्थोंमें यह आत्माको भी मानता है और जो जाननेमें पदार्थ आते हैं उन्हें भी मानता है अर्थात् आत्मपदार्थ, प्रकाश, इन्द्रिय सबका जुड़ाव हो जाय तो प्रमाण होता है। इसका नाम रखा है कारकसाकल्य। तो पदार्थ सामग्रीके सम्बन्धमें ही पूछा जा रहा है कि कारकसाकल्य नाम किसका है। तो पहिले इन दो विकल्पोंका तो खण्डन कर दिया है कि कारकोंका नाम ही कारकसाकल्य है यह भी ठीक नहीं, कारकोंके धर्मका नाम कारकसाकल्य है यह भी ठीक नहीं। अब तीसरा विकल्प चल रहा है कि पदार्थोंकी क्रियाका नाम कारकसाकल्य है अर्थात् आत्मा और पदार्थ इन सबका जो कार्य है वह प्रमाण है। तो इस सम्बन्धमें आपत्ति दी जा रही है।

नित्य कारकोंका कार्य प्रमाण माननेपर प्रमाणोंकी युगपत् उत्पत्तिका प्रसंग—कारकसाकल्यको माननेवाले विशेष प्रकारके नैयायिक और भट्ट पदार्थोंको नित्य मानते हैं। प्रत्येक पदार्थ नित्य है और अनित्य भी, ऐसा मानते हैं कि जिनमें परिणमनका कोई अवकाश नहीं है, अपरिणामी नित्य है, तो परिणमनके बिना नित्यमें यदि प्रमाणको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य मान ली जाय तो नित्य पदार्थोंसे सदैव प्रमाणोंकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिए। जो पदार्थ अपरिणामी भी नित्य है, कूटस्थ कभी भी कुछ भी परिणमन न कर सके ऐसे पदार्थोंसे प्रथम तो प्रमाणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। और, कदाचित् मानलो प्रमाणकी उत्पत्ति होने लगे तो नित्यसे जो कार्य बनेगा वह सदा बनना चाहिए। कार्यके सम्बन्धमें अब तो यह गुंजायस है कि पदार्थ जब जिस योग्य होता है तब उससे वह कार्य बनता है। किन्तु जो सर्वथा नित्य माने तो उसका अर्थ है कि नित्य होकर यदि उससे कार्य बनता है तो कार्य करनेकी योग्यता भी सदैव है। तो जब योग्यता सदैव है तो कार्य सदैव,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होते रहना चाहिए। और, पदार्थोंको प्रमाण उत्पन्न होनेका कार्य मानते हैं तो सारे प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिए।

ज्ञानरहित कारकोंका कार्य प्रमाण माननेपर अव्यवस्था—यह कारक साकल्यका मंतव्य आत्माको ज्ञानस्वभावसे रहित जैसा माननेवालोंका ही एक भेद है। इसके मन्तव्यमें आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है। आत्मा है, चेतन है पर वह ज्ञान करनेका स्वभाव नहीं रखता। ज्ञानके बिना ही उनका चैतनस्वरूप है और चैतन्यस्वरूप उतना है कि जिसमें ज्ञानका सम्बन्ध जोड़ने के लिए आत्माको चेतन माना है। लेकिन आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप नहीं तो वहां फिर एक प्रश्न यह हो सकता है कि ज्ञानका जब आत्मा से सम्बंध ही कुछ नहीं रहा और ये दोनों भिन्न पदार्थ हो गए तो ज्ञान आत्मामें ही क्यों जुड़ता है अन्य पदार्थोंमें क्यों नहीं जुड़ने लगता ? इसके उत्तरमें वे चैतन्य धर्म कहकर मानें तो उसमें यह बात भी समा जाती है कि उस चेतनका ज्ञानसे निकट सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध है स्वरूप सम्बन्ध। लेकिन ऐसा विचित्र मन्तव्य है कि आत्मा तो है और वह चेतन है पर ज्ञानशून्य है। ज्ञान निकलता है प्रकृतिसे अचेतन से और उस ज्ञानका जब चेतन आत्मामें सम्बन्ध होता है तो आत्माको ज्ञान करने वाला कहते हैं। सारी हरकतें ये सब प्रकृतिमें मानी गयी है। आत्मा तो नित्य अपरिणामी है ऐसा मन्तव्य है इनका। तो जो नित्य है आत्मा और उससे निकलता है प्रमाणका कार्य तो इसका अर्थ यह है कि आत्मामेंसे प्रमाण कार्य निकलनेका स्वभाव है और वह है नित्य तो उससे सभी प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाना चाहिए।

सर्वथा नित्यसे कार्यकी असिद्धि व अव्यवस्था—ऐसा नियम है कि जिस समय जो पदार्थ जिसका जनक होता है उस समय उस पदार्थकी उत्पत्ति होती ही है। जैसे कि प्रकृतिमें, प्रमाणके सम्बन्धमें उत्पन्न होने वाला प्रमाण प्रमाणके कारणसे होता ही है। अब तुमने माना है सारे प्रमाणोंका कारण नित्य कारक आत्मा आदिक सामग्री केवल आत्माको ही प्रमाणका कारण ये लोग नहीं मानते। जैसे प्रमाण बननेमें पदार्थ, इन्द्रिय, प्रकाश ये सब साधन हैं ऐसे ही एक आत्मा साधन है। तो प्रमाण का कारण जो कुछ भी हो वह कारकसाकल्यवादियोंके यहां नित्य माना गया है और उस नित्यसे प्रमाणरूप कार्य होता है तो इसका अर्थ यह है कि प्रमाण कार्यका जनक नित्य कारक सदैव प्रमाणकी योग्यता वाला है तब सभी प्रमाणोंकी उत्पत्ति एक साथ हो जानी चाहिए। यद्यपि कूटस्थ नित्यमें कार्य नहीं माना गया, फिर भी किसी प्रसंगमें जबरदस्ती कुछ मानना भी पड़ता है। इस जबरदस्तीके माननेमें ही दोष दिया जाता है। कुछ कूटस्थ नित्य हो, उसका कार्य न हो वह तो यहां बड़ा दोष है ही पर नित्यसे कार्य होनेमें भी एक दोष यह है कि सारे कार्य एक साथ हो जाने चाहियें।

नित्यानित्यात्म पदार्थसे अनुरूप कार्यव्यवस्था—पदार्थ सब नित्यानित्यात्मक हैं। न सर्वथा नित्य हैं न सर्वथा अनित्य हैं। यदि नित्य ही हो तो भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कार्य नहीं बन सकता और अनित्य ही हो तो भी कार्य नहीं बन सकता। पदार्थ है कोई एक, अपने अपने विशिष्ट कार्यके प्रसंगमें और वह परिणमनशील है। समय समयपर विशिष्ट विशिष्ट योग्यता आया करती है तो वह जो विशिष्ट योग्यता है वह कार्यका जनक है न कि पदार्थका नित्य स्वभाव कार्यका जनक है। इस कारण जो ऐसा मंतव्य है कि कारकोंके कार्यका नाम कारकसाकल्य है और कारकसाकल्य प्रमाण है वह अविचारितरमणीय है। जैन दर्शनमें ज्ञानको प्रमाण माना है, अव्याप्ति अतिव्याप्ति असम्भव आदिक दोषोंसे रहित जो सम्यग्ज्ञान है सो प्रमाण है, इसके विपक्षमें यहां कारकसाकल्के प्रमाणपनेकी बात चल रही है कि जो जो प्रमाणमें साधन पड़ते हैं उन उन पदार्थोंका जुड़ाव हो जाना यही प्रमाण है। इस जुड़ावका नाम है साकल्य सकलस्यभाव: साकल्यं। सकल नाम है सबका। जैसे कहते हैं ना सकल बन्धुवोंसे प्रार्थना है सकल नाम है साकल्य। अर्थात् सबका जुडाव सबका भाव। तो वह साकल्य कारकोंका काय है तो कारक तो है नित्य सो यह साकल्य अर्थात् यह प्रमाण सबका सब एक साथ हो जाना चाहिये।

नित्यसे सतत और सकल प्रमाणोंकी उत्पत्ति न होनेपर प्रमाणविकलताका प्रसंग - यदि ऐसा कहेंगे कि प्रमाणका कारण आत्मादिक मौजूद तो हैं नित्य, परन्तु सब प्रमाणोंकी एक साथ उत्पत्ति नहीं होती। तो जब सबकी उत्पत्ति नहीं होती तो कभी भी उत्पत्ति नहीं होना चाहिए। जो नित्य है और जिसमें कुछ करनेका स्वभाव है तो जब वह नित्य सदा है तो काम भी सदा रहना चाहिए। नित्य मौजूद होनेपर भी कम नहीं होता तो इसका अर्थ है–कभी होना ही न चाहिये, हो तो सब हो, जब प्रमाणकी उत्पत्ति नित्यसे न होगी तो सारा संसार चूंकि नित्य कारणमय है तो प्रमाण कभी हो ही नहीं सकता। किंतु ज्ञानके प्रमाणत्व माननेपर जैसा आवरणका क्षयोपशम है, जैसी आत्मामें योग्यता है और जैसी परिस्थिति है उस उस प्रकारसे ज्ञान होता रहता है। यहां न यह बाधा है कि सब प्रमाण एक साथ हो जाना चाहिए और न यह बाधा है कि ये भिन्न भिन्न प्रमाण कैसे होते रहते हैं।

सर्वदा नित्यसे प्रमाणव्यवस्थाका अभाव— देखिए सर्वज्ञ भगवानके सारे प्रमाण एक साथ रहते हैं जो सबके सब केवल ज्ञानरूप हैं क्योंकि वहां आवरणका क्षय है शुद्ध ज्ञानका विकास है। तो सकल प्रमाण बने उसकी स्थिति विलक्षण हुआ करती है। वहां प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था नहीं रहती। किंतु, जहां क्रमसे ज्ञान हो वहां प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था है। जहां सर्वदा प्रमाण है और सब कुछ ज्ञात है वहां प्रमाणकी व्यवस्था क्या। चूंकि सम्यग्ज्ञान है केवलज्ञान इस कारण उसे प्रमाण कहते हैं। लेकिन जिस ज्ञानमें प्रमाण और अप्रमाण का फेर चलता रहे वहां ही तो प्रमाणकी व्यवस्था व्यवहार्य हो सकेगी। हम कभी प्रमाणरूप जानते हैं कभी अप्रमाण रूप जानते हैं तो यहां सिद्ध करना होगा कि यह प्रमाण है और यह अप्रमाण है तो इन व्यवहारी प्रमाणोंके स्वरूपमें आत्मा आदिक नित्य कारकोंसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रमाणकी उत्पत्ति मानी गयी तो सदैव प्रमाण होना चाहिये। और, न है तो कुछ भी न होना चाहिए।

नित्यकी उपस्थितिमें कदाचित् कार्य न होने पर उस के कारणत्वका अभाव यदि ऐसा कहेंगे कि आत्मा आदिक जो प्रमाणके कारण हैं वे तो हैं सदा और प्रमाण करनेकी सामर्थ्य भी है मगर प्रमाणका स्वयं ही यथाकाल जब जो होना है, होता है तो इसके मायने है कि प्रमाण उनका कार्य नहीं रहा। आत्मा आदिक मौजूद हैं फिर भी प्रमाण कभी होता कभी नहीं होता तो इसके मायने यह हुआ कि आत्माका कार्य प्रमाण नहीं, कारकोंका कार्य प्रमाण नहीं। जैसे आकाश सदा मौजूद हैं फिर भी कभी प्रमाण ज्ञान बनता है कभी नहीं बनता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका कारण आकाश नहीं है। ऐसे ही ये सब कारक मौजूद है जिनके साकल्यको तुम प्रमाण कहते हो और फिर भी प्रमाण कोई कभी होता, कोई कभी नहीं होता तो इसका कुछ अन्य कारण खोजना चाहिए, इन कारकों को प्रमाण न मानें क्योंकि प्रमाणके करनेमें समर्थ इन कारकोंके मौजूद होने पर भी सदैव विद्यमान रहने पर भी कभी प्रमाण होता है और कभी नहीं होता है इस कारण प्रमाणका स्वरूप ज्ञानको छोड़कर अन्य रूपसे नहीं बनता।

आत्माको उपस्थितिमात्रसे कादचित्क प्रमाणका कारण माननेपर आकाशादिके प्रमाणकारणत्वका प्रसंग—शायद यह भी थोड़ी बहुत बुद्धि लगायें कि प्रमाण जब हुआ तो आत्मा आदिकके रहने पर ही तो हुआ इसलिए प्रमाण आत्मा आदिकका कार्य है। यों तो आकाशके होनेपर भी हुआ तो प्रमाण आकाशका कार्य बन गया। जिसे कोई व्यवस्था बैठालनेकी मनमें नहीं है वह तो कुछसे भी कुछ कह सकता है चलो ऐसा ही कर लो। आकाशको भी प्रमाणका कारण मान लो। तो कहते हैं आकाशको प्रमाणका कारण मान लिया तो फिर आत्मा नामकी चीज कुछ भी रही नहीं। यह आत्मा है यह अनात्मा है यह भेद डालनेका तुम्हारे पास क्या सबूत रहा? ज्ञानका साधकतम भी नहीं है। और, जैसे आकाशके होनेपर प्रमाण माना ऐसे ही आत्माके होनेपर माना तो फिर बेद क्या रहा? तो आत्माका नाम ही मिटा दो, है हीं नहीं कुछ चीज। पूरे भौतिकवाद पर उतर आवो। अपनेको नास्तिकमयताका लांछन मिटानेके लिए आत्मा माना है, पर वह तो न माननेकी तरह है। आस्तिक पुरुषोंकी तरह हमारी अप्रतिष्ठा न हो इसलिए इस रूपमें आत्मा माना गया है। अब यह बतलावो कि किसका नाम आत्मा है किसका नाम अनात्मा है? आकाशको अनात्मा कहेंगे ऐसा भेद डालनेका तुम्हारे पास साधन क्या रहा? वैसे तो भेद डालनेका साधन स्पष्ट है। जहां ज्ञान दर्शन है वह आत्मा है। जहां ज्ञान दर्शन नहीं वह आत्मा नहीं। जो प्रमाणका अभिन्न आधार है, वह आत्मा है; जो प्रमाणका अभिन्न आधार नहीं वह आत्मा नहीं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपस्थितिमात्रसे पदार्थोंको प्रमाणका कारण माननेपर आत्मा व अनात्माके विभागका अभाव – जब तुमने आकाशके होनेपर प्रमाण कार्यको माना और आत्माके होनेपर प्रमाणकार्यको माना तो आकाशमें और आत्मामें यह आत्मा है, यह अनात्मा है इस भेदके होनेका कारण क्या है सो बतलाओ ? लो, अब कारण बतलाते हैं सो उनका कारण सुनिये वह भी दोंदापट्टीका वक्तव्य मिलेगा। कारक साकल्यके मानने वाले जरन्नैयायक कहलाते हैं। यह नैयायकोंका एक भेद है। उनका कहना है कि जिसमें प्रमिति अर्थात् ज्ञप्तिका समवाय सम्बन्ध रहता हो वह तो आत्मा है और जिसमें जानकारीका सम्बन्ध न बने वह अनात्मा है, और जानकारी है आत्मासे जुदी चीज। उसका सम्बन्ध बना रहे हैं। तो उसीमें ही यह प्रश्न हो जायगा कि प्रमिति आत्मामें क्यों गई और आकाशमें क्यों नहीं गई ? ज्ञानका आधार है अचेतन प्रकृति। उसका कार्य है ज्ञान। और उसका सम्बन्ध होता है आत्मासे। अथवा ज्ञान नामका एक स्वतंत्र ही तत्त्व है आधार पूछनेकी जरूरत ही नहीं है।

आत्मामें ज्ञानके समवाय सम्बन्धकी असिद्धि—जहां द्रव्य गुण क्रिया सामान्य विशेष समवाय और अभाव ये ७ पदार्थ माने गए हैं तो ७ माननेका अर्थ ही यह है कि ये सबके सब स्वतंत्र हैं। जैसे द्रव्य भी स्वतंत्र चीज है ऐसे ही गुण भी स्वतंत्र है और समवाय स्वतंत्र है। अब समवाय गुणको द्रव्यसे जोड़ देता है तो इस तरहकी कम्पनी चलती है, उससे जगतकी व्यवस्था है। तो जैसे गुण स्वतंत्र है और द्रव्यकी क्रिया स्वतंत्र है। द्रव्य अलग चीज है क्रिया अलग चीज है फिर क्रियाका द्रव्यमें जुड़ाव होता है उसे कहते हैं समवाय सम्बन्ध, ऐसे ही सामान्य अलग है विशेष अलग है, अभाव भी अलग पदार्थ है। अभावके मायने हैं पदार्थका न होना, सत्त्व न होना, एग्झिस्टेन्स न होना, तो यह न होना किस रूप है, यह 'न होना' क्या द्रव्य है, 'न होना' क्या गुण है, 'न होना' क्या क्रिया है, 'न होना' क्या समवाय है, सामान्य है ? ये तो नहीं है। ये नहीं हैं तो एक अलग चीज हो गयी, तो ऐसे आत्मा प्रमितिका समवाय है, जानकारीका समवाय है और आकाश आदिकमें नहीं है ऐसा यदि कहेंगे तो प्रथम तो यह बात है कि समवाय नामका सम्बन्ध ही नहीं है इसका आगे निराकरण करेंगे। फिर जानकारीका सम्बन्ध भिन्न आत्मामें हो गया यह फिट बैठता ही नहीं, यदि यह प्रमाण होना नित्य पदार्थका कार्य है तो सदैव होते रहना चाहिए। सो कारकोंका कार्य भी साकल्य नहीं है, प्रमाण नहीं है किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

ज्ञानातिरिक्त अन्यमें प्रमाणताकी असिद्धि—गुण आत्माका ज्ञान है और जब जिस ज्ञानके आवरणका क्षयोपशम है, जैसा अन्य पदार्थका निमित्त साधन मिलता है उस कालमें उस ढंगसे प्रमाण बन जाया करता है, ऐसा न मानकर इन पदार्थोंके जुड़ावका ही नाम प्रमाण मान लिया जाय तो उसमें अनेक विडम्बनायें हैं। इसी कारण लिखा हुआ भी प्रमाण नहीं है, गवाह भी प्रमाण नहीं है, आपका भोगना भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रमाण नहीं है, लिखा हुआ तो यह है, पर यह पदार्थ प्रमाण नहीं। इस लिखे हुएके अर्थकी जो समझ बनती है वह ज्ञान प्रमाण है। ये कागज, ये अक्षर, यह स्याही, ये पौद्गलिक चीजें प्रमाण नहीं हैं। ये तो अचेतन हैं, गवाह भी प्रमाण नहीं है। जैसे कहते हैं ना कि तुम्हारे मुकदमेका गवाह कौन ? एक आदमी खड़ा कर दिया लो यह है प्रमाण ! तो वह भी प्रमाण नहीं है। उसकी बात सुनकर जो चित्तमें ज्ञान बनता है और जो ज्ञान यह निर्णय रखता है कि यह बात सच है ऐसी सत्यताका निर्णय बनानेवाले ज्ञानका नाम प्रमाण है, वह साक्षी प्रमाण नहीं है। तो ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञानको छोड़कर अन्य चीजोंको प्रमाण माननेका निषेध किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में प्रमाणकी परीक्षा इसलिये की जा रही है कि तत्त्वका निर्णय तो प्रमाणपर ही निर्भर है। प्रमाणका ही निर्णय न हो तो तत्त्वकी सिद्धि कैसे हो सकती है। सो स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, ऐसा इस प्रथमसूत्रमें कहा गया है।

कारकोंमें स्वभावभेद माननेकी आवश्यकता ज्ञान प्रमाण है इसके विरोधमें कारकसाकल्यवादी कह रहे हैं कि कारकोंका समुदाय प्रमाण है अर्थात् आत्मा, प्रमेय पदार्थ, प्रकाश आदिक साधन इन सबका जुड़ाव प्रमाण है, इस सम्बंध में चर्चा चलते-चलते जब कारकसाकल्यका स्वरूप पूछा गया तो कुछ विकल्पोंके बाद इस विकल्पपर आये कि कारकोंके कार्यका नाम कारकसाकल्य है। इस प्रसङ्गपर यह प्रश्न किया गया कि तुम्हारे यहां कारक तो नित्य हैं, आत्मा आदिक पदार्थ कूटस्थ नित्य अपरिणामी हैं, उनका कार्य यदि प्रमाण है तो वह तो सदा रहता है, तो सदैव और समस्त प्रमाण एक साथ हो जाना चाहिए। तो इस अनिष्टापत्तिके निराकरणमें यह कहेंगे कि जिस समय जो होता है, उसी प्रकार आत्मा आदिक कारकोंमें प्रमाणके करनेकी समर्थता होती है। इसी कारण एक समय समस्त प्रमाणोंकी उत्पत्ति नहीं होती। शङ्काकारके अभिप्रायमें यह बात है कि आत्मा आदिक पदार्थ हैं तो नित्य और उनका कार्य है प्रमाण, किन्तु जब जिस समय जो प्रमाण बनता है उस समय उस प्रमाणके ही ही करनेका सामर्थ्य आत्मा आदिकमें है।

भैया ! इस बातको तब तक सही नहीं बैठा सकते हैं जब तक उन भिन्न भिन्न प्रमाणोंको प्रकट करनेकी सामर्थ्यका आत्मा आदिकमें भेद न मान लिया जाय, आत्मा आदिक वे ही हैं और प्रमाण होता क्रमसे, कभी कोई कभी कोई, यह बात कैसे सम्भव हो सकती है ? यहां विशेष हँसीकी बात तो यह है कि ज्ञानको प्रमाण माननेमें तो उन्हें कुछ अड़चन सी हो रही है और ज्ञानको प्रमाण न मानकर आत्मा आदिकको प्रमाण माना है। आत्मा आदिकके कार्यको तो प्रमाण कहते हैं पर ज्ञानको प्रमाण नहीं कह सकते।

प्रमाणभेदका कारण—जैन दर्शनमें जिस समय जिस ज्ञानावरणका क्षयोपशम आत्माको मिला और छद्मस्थावस्थामें जिस इन्द्रियकी समर्थता व प्रमेय पदार्थोंका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अभिमुख होना आदिक निमित्त प्राप्त होते हैं उस समय उस प्रकारका प्रमाण जगता है। यहां सब प्रमाणोंको एक साथ उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग नहीं आता। एक साथ सब प्रमाण उत्पन्न हो जायें उसकी स्थिति मानों ऐसी समझिये जैसे सर्वज्ञदेवका ज्ञान। तीन काल तीन लोकके सब पदार्थोंका एक साथ ज्ञान हो रहा है तो सवज्ञके ज्ञानमें क्या तो प्रमाणकी व्यवस्था करें और क्या अप्रमाणकी व्यवस्था करें, प्रमाण अप्रमाणकी अपेक्षा रखता है और अप्रमाण प्रमाणकी अपेक्षा रखता है अपने स्वरूपको बताने में, उत्पत्तिमें नहीं। तो जब तक आत्मा आदिक नित्य कारकोंमें स्वभावभेद न माना जाय, योग्यता भेद न माना जाय तब तक भिन्न भिन्न प्रमाण उत्पन्न होनेकी बात नहीं बन सकती।

कारकोंमें स्वभावभेदका समर्थन – यदि कारक पदार्थमें स्वभावभेद माने बिना नित्य पदार्थकी क्रिया अनेक प्रकारमें मान ली जाय तो एक प्रकारके अणुसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सब तरहका निर्माण हो जाय, इसमें कौनसी कठिनाई आती थी? फिर क्यों चार जातिके अणु माने, जो कारकसाकल्यवादी मानते हैं। उनका एक अभिमत है कि पृथ्वीके अणुसे पृथ्वी ही बनेगी, जलके अणुसे जल, अग्निके अणु से अग्नि और वायुके अणुसे वायु ही बनेगा। इस सम्बन्धमें जैनदर्शन यह कहता है कि ये चारोंके चारों पुद्गल हैं और लक्षण सामान्यकी दृष्टिसे यह सब कुछ होनेका आधार पुद्गल अणु है। हाँ, इतनी विशेषता जरूर है पर्यायस्वभावकी वजहसे कि जिस अणुमें पृथ्वी बनानेका सामर्थ्य है वह अणु चिरकाल तक पृथ्वी बनानेका सामर्थ्य रखेगा। जल अग्नि बनानेका सामर्थ्य न रखेगा, किन्तु यह नियम नहीं है कि त्रिकाल पृथ्वीके अणु अलग ही हों। जैसे इस चौकीसे काठसे आप जो कुछ भी बनवायेंगे दो चार सौ वष तक काठकी ही चीज बनेगी, मिट्टीकी चीज घड़ा आदि इससे न बन सकेगी। लेकिन यह नियम नहीं किया जा सकता कि इन काठके अणुवोंसे घड़ा कभी न बन सकेगा। तो जैसे तुमने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके अणु अलग माने हैं वहां एक अणुसे चारका काम आप न चला पाये और यहां एक नित्य आत्मादिक कारकसे अनगिनते प्रमाणोंके क्रमसे आप काम चलाना चाहते हैं। जैसे प्रमाणके प्रसङ्गमें आत्मा आदिक कारकोंमें कोई एक नित्यस्वभावका समर्थन कर रहे हैं ऐसे ही इन अणुवोंमें भी एक नित्य स्वभाव वाला कुछ मान लेना चाहिये था। ये अनेक और भिन्न स्वभाव वाले चार तत्त्व माननेकी क्या जरूरत थी? तो जैसे तुम्हारे भौतिकवादके प्रसङ्गमें कारण और जाति–भेदके बिना कार्य–भेद नहीं होता है, ऐसा मानते हैं अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार प्रकारके प्रकट कार्य हैं तो चार प्रकारके कार्योंके लिए चार प्रकारके कारण माने गए हैं, तो वैसे जहांपर कारणभेदके बिना, जातिभेदके बिना कार्यभेद नहीं होता ऐसा मंतव्य रखा है ऐसे ही यहां भी मान लीजिए कि आत्मादिक कारकोंमें शक्तिभेदके बिना भिन्न प्रकारके प्रमाण नहीं हो सकते, फिर इन आत्मा आदिक कारकोंको सर्वथा अपरिणामी नित्य ही क्यों मानते?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रमाणप्रकटनपद्धति सीधी बात तो यह है कि आत्मा है, ज्ञानस्वभावी है, उपाधिके कारणसे आत्मामें ज्ञानविकाश रुका हुआ है तो जैसे आवरणका क्षयोपशम होता है सो क्षयोपशमके अवस्थाकी ऐसी ही प्रकृति है कि इंद्रिय, पदार्थ, प्रकाश आदिक योग्य योग्य कारकोंके सन्निधानमें ज्ञान होता है और ज्ञान ही वास्तवमें प्रमाण है, किन्तु इस तथ्यको स्वीकार किए बिना केवल बाहरी–बाहरी पदार्थोंको ही उनके समूहोंको प्रमाण माननेकी कल्पना करना यह प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सकता। तो एक शक्तिसे अनेक प्रकारके कार्य नहीं हो सकते। जितनी प्रकारके कार्य होते हैं उतनी प्रकारकी शक्तियां पदार्थोंमें माननी पडेंगी। ज्ञान नाना होते हैं, प्रमाण नाना होते हैं तो इसके प्रमातामें अथवा जिन–जिनको कारक माना गया है उनमें उतने शक्तिभेद जरूर होने चाहियें। जैनदर्शनमें ज्ञानावरण कर्म ५ माने गए हैं उनमें एक मतिज्ञानावरण है, पर मतिज्ञानावरण उतने हैं जितनी प्रकारके मतिज्ञान हो सकते हैं, और पदार्थोंके ज्ञानकी दृष्टिसे जितनी प्रकारके पदार्थ ज्ञान मतिज्ञानमें होते हैं उतने ज्ञानावरण हो सकते हैं और उन ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उन उन पदार्थोंका ज्ञान होता है। घटज्ञानावरण, पटज्ञानावरण, चौकीज्ञानावरण जितने चाहे ज्ञानावरण मानते जाइये, उन उनके क्षयोपशममें उतनी उतनी शक्तियां प्रकट होती हैं और उन शक्तियों से आत्मा संसारावस्थामें ज्ञान करता है।

स्याद्वादसे स्वभाव और शक्तिका दर्शन—इस प्रसङ्गमें कारकसाकल्यवादी जैनोंपर एक आपत्ति डालते हैं कि तुम एक शक्तिसे अनेक शक्तिका धारण करना मानते हो अर्थात् द्रव्योंमें एकस्वभाव होता है और उस एकस्वभावमें अनेक शक्तियां पड़ी होती हैं तो जिस एक शक्तिसे अनेक शक्तियोंका द्रव्य धारण करते हैं तो उन शक्तियोंमें धारणार्थ फिर अनेक शक्तियोंकी कल्पनायें करनी पड़ेंगी, इस तरह अनवस्था दोष होगा। तो जैसे तुम्हारे यहां एक ही शक्तिसे अनेक कार्य मान लिए गए, एक स्वभाव से आत्मा चैतन्य स्वभावमात्र ही तो है और उस एक स्वभावसे अनेक पदार्थोंके ज्ञान की शक्ति मान ली गयी ऐसे ही हमारे यहां भी एक नित्य पदार्थ है और उससे अनेक प्रकारके प्रमाण मान लिए जायेंगे।

समाधान—यह आपत्ति उचित नहीं है, कारण यह है कि नयविवक्षामें अनेक शक्तियोंके समूहको एक स्वभाव कहा करते हैं, किन्तु उस स्वभावमें जब कार्यभेद देखते हैं तो अनेक शक्तियां कहते हैं। जैसे आत्मा एक चैतन्य स्वभावमात्र है, इसका अर्थ यह है कि द्रव्यदृष्टिसे निर्विकल्पाभिमुख पद्धतिसे आत्मा चैतन्य स्वभावमात्र है, किन्तु उस ही तत्त्वको जब हम पर्यायदृष्टिसे देखते हैं, उसके वर्तमान परिणमनका विश्लेषण करके जब हम वस्तुदृष्टिसे देखते हैं तो आत्मा अनन्त शक्तिस्वरूप है। यह पदार्थको देखनेकी पद्धति है। पदार्थ एक स्वभावरूप भी है, पदार्थ अनेक शक्तिरूप भी है। वहां एक स्वभावने अनेक शक्तियोंको धारण कर रखा हो ऐसी बात नहीं है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

पदार्थ जैसा है तैसा ही है, उसे आप कभी एक शक्तिरूप भी देख लो, कभी नाना शक्तिरूप भी देख लो।

नित्यानित्यात्मक व उपादानभूत कारक न माननेसे विवाद— जितने ज्ञानभेद होते हैं वे अपने अपने कारणकलापोंसे उतनी प्रकारके परिणमनरूपसे भेद होते हैं। एक प्रत्यक्ष दृष्ट सुगम दृष्ट बातको न मानकर अप्रत्यक्ष दुर्गम तत्वको मानने में न जाने कितनी बुद्धिमानी पहिले समझी जाती थी। कुछ उसीमें ही एक पांडित्य माना जाता होगा कि ऐसे निरूपणसे लोगोंपर प्रभाव डाला जा सकता है यह देखो कुछ विशिष्ट और नई बात कह रहे हैं जो बात अब तक समझमें नहीं आयी। जैनदर्शनमें तो पदार्थके स्वरूपको सीधी रीतिसे प्रतिपादनका महत्व दिया गया है। तो ज्ञान ही प्रमाण है और जब जब यह आत्मा जिस जिस प्रकारकी योग्यतामें होता है तब तब उस उस प्रकारका इसके ज्ञान प्रकट होता है। इसकी अनुत्पत्ति तो सर्वथा नित्य वादियोंके हो सकती है। आत्मा नित्यानित्यात्मक है। इसका द्रव्य सदैव रहेगा अतएव नित्य है, किन्तु यह प्रति समय परिणमनशील है जो इसका स्वभाव है शक्ति है उस शक्तिका प्रति समय परिणमन होता है अतः आत्मा अनित्य है। जब जब जैसी योग्यता है तब तब तैसा परिणमन होता है। जहाँ यह आत्मा पूर्ण शुद्ध हो जाता है वहां पर फिर सब परिणमन अनन्तकाल तक अनन्त परिणमन एक समान होंगे। भैया! उपाधिके सम्बन्ध तक इस आत्मामें विभिन्न परिणमन होते हैं। इन सब विवादोंका मूल तो इतना ही है कि पदार्थ नित्यानित्यात्मक नहीं माने गए। सारी समस्या नित्यानित्यात्मक माननेसे सुलझ जाती है।

सर्वथा नित्य कारकसे कार्योत्पत्तिकी असंभवता—पदार्थ केवल नित्य है तो कार्य कैसे होता है? कार्यका होना नित्यसे सम्भव नहीं है। जब तक पदार्थमें विक्रिया न बने, पदार्थमें परिणमन न बने तब तक कार्य कैसे हो? और मान लो कार्य हो गया तो फिर यह बतावो कि वह कार्य उस नित्य पदार्थसे जुदा है या एकमेक है? वह जुदा है तो फिर क्रिया किसका और कार्यका आधार क्या? कार्यका आधार माननेसे अनित्य स्वभाव सिद्ध हो जाता है। तो प्रमाण माने गये हैं आत्मा आदिक पदार्थ और वे हैं कूटस्थ नित्य अपरिणामी और उनसे प्रमाणरूप कार्यकी सिद्धि की जा रही है तो ये सब अड़चनें उत्पन्न हो रही हैं इस कारक साकल्यवादीके लिये। नित्य पदार्थोंसे प्रमाणरूप कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है और अगर होने लगे तो सारे प्रमाण एक साथ हो जायें। जब तक कारणमें कारकोंमें स्वभाव भेद न पड़े तब तक भिन्न भिन्न कार्य नहीं बन सकते। अब तो यह कहेंगे अपने कारकसाकल्यके समर्थनमें कि प्रमाणके कारण तो हैं आत्मा आदिक, किन्तु जब सहकारी अन्य कारण मिलते हैं तब उस उस प्रकारके कार्य होते हैं। आत्मा तो अविकृत सरल नित्य है उसमें कोई हेर फेर नहीं होता, किन्तु अन्य अन्य सहकारी कारण जैसे मिलते हैं उसके अनुसार प्रमाणकी व्यवस्था चलती है, तब देशका, कालका स्वभाव भेद बन जाता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नित्य कारकमें सहकारी अपेक्षाका अकारण—यहां यह कहा गया कि आत्मा नित्य है और उसका कार्य प्रमाण है पर ये भिन्न भिन्न जो प्रमाण होते हैं वे आत्माके स्वभाव भेदसे नहीं होते, किन्तु सहकारी कारणोंके मिलनेका जो भेद है, कब कैसे सहकारी मिले उन भेदोंसे प्रमाणमें भेद चलता है। यह पक्ष भी सही न उतरेगा कारण यह है कि जो नित्य पदार्थ है वह अनुपकार्य होता है अर्थात् उसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती है। उसमें जो बात पड़ी है वह उसमें निरपेक्ष पड़ी है। उसमें न विकार होगा न कोई परिणमन भेद होगा। तो नित्य पदार्थ अनुपकार्य हुआ करता है इस कारणसे सहकारीकी अपेक्षा ही नहीं बन सकती। जो कुछ सुधर सके बिगड़ सके जिसमें कुछ परिणमन हो सके उसे ही तो सहकारीकी अपेक्षा होगी। जो कूटस्थ है नित्य है, सदैव एक स्वभाव है, सहकारी मिलकर करेंगे क्या ? वहां तो कुछ बदल होती नहीं।

कारकोंके कार्यमें सहकारी अपेक्षाके विकल्प—नित्य पदार्थ चूंकि अनुपकार्य है इसलिये उसमें सहकारीकी अपेक्षा नहीं बनती फिर भी मानें जबरदस्ती कि सहकारीकी अपेक्षा होती ही है और उन सहकारी कारणोंके भेदसे प्रमाण भेद चलता है तो यह बतलावो कि उन सहकारी पदार्थों ने इन आत्मा आदिक नित्य पदार्थोंमें क्या सहायता दी ? क्या कोई विशेष बात उत्पन्न की ? या एक ही प्रमाणरूप कार्य को मित्र बनकर उन सहकारियोंने भी किया ? जैसे कोई गोष्ठीका मुख्य मनुष्य किसी कार्यको करता है तो सहकारी लोग क्या किया करते हैं ? या तो उस मुख्य पुरुषमें कुछ अतिशय पैदा करदे। खुद तो न करेंगे किन्तु उसका साहस बढ़ादें, एक मार्ग दर्शनदें, एक तो सहकारी लोग यह काम कर सकेंगे या जिस कार्यको वह कर रहा है वहाँ ये भी साथ साथ उस ही एक कामको करने लगें या इस प्रकारसे सहकारी बन सकते हैं। तो आप यह बतलावो कि आत्मा आदिक नित्य पदार्थ जो भी प्रमाणका कार्य करते हैं तो वहां सहकारी कारण उन आत्मा आदिकमें क्या कोई अतिशय पैदा कर देता है, या उस एक प्रमाण रूप कार्यसे उस आत्माके साथ साथ यह भी क्रिया करता है ? जैसे व्यवहारमें मुख्य पुरुष कोई काम कर रहा है तो मित्रजन दो तरहसे उसका उपकार कर सकते हैं। उस मुख्य पुरुषका हौसला बढ़ादें इस तरहसे या उस कार्यको साथ साथ करने लगें इस तरहसे तो सहकारी कारणसे जो प्रमाणरूप कार्य करनेके लिए आत्मा आदिककी सहकारता दी है तो किस प्रकारकी सहायता दी ? इन कारकोंमें अतिशय पैदा कर दिया क्या।

कारकोंमें अतिशयाधानकी अनुपपत्ति—यदि अतिशय सहकारियोंने पैदा कर दिया तो यह बतलावो कि यह अतिशय इन कारकोंसे भिन्न है या अभिन्न है ? जो अतिशय सहकारी कारणोंने किया है प्रमाणरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिये वह अतिशय इन कारकोंसे जुदा है या इन कारकोंरूप है ? यदि कहें कि कारकोंसे जुदा है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह अतिशय तो ऐसे जुदे अतिशयको कर देनेपर भी कारकोंका कार्य प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि, अतिशय तो न्यारा है। और, फिर अतिशयको ही प्रमाणका कारण कह लीजिए। उस अतिशय ने ही प्रमाण किया है। अतिशय तो आत्मासे जुदा है ना तो आत्माने क्या किया ? और, आत्माका कार्य प्रमाण फिर कहां रहा, अतिशयका कार्य रहा। फिर कारककी रट छोड़ दीजिए कि कारकसाकल्य प्रमाण है। यह तो सब कुछ सहकारी कारणका प्रताप है। आत्मा फात्मा सब त्याग दीजिये और यदि भिन्न अतिशय ही किया गया तो उस प्रमाणसे पहिले क्यों न अतिशय बन गया ? सहकारी कारण भी सब जगह है तो अतिशय बनता रहता। और यों ये सारे प्रमाण को उत्पन्न करदें कुछ करदें तो वहां सब विप्लव हो जायगा, इस कारण यह समझना कि प्रमाणमें मुख्य कारण तो जिसका परिणमन है वह है। जब तक एक मुख्य उपादान नहीं माना जाय तब तक सहकारी कारणोंसे कुछ बात बन नहीं सकती भिन्न अतिशय यदि पैदा किया तो उस अतिशयका जब कारकमें सम्बन्ध ही नहीं है और फिर यह पूछें कि सहकारी कारणसे वह अतिशय भिन्न है क्या, भिन्न है तो सहकारीका भी अतिशयसे सम्बन्ध नहीं रहा, तब तो वह किसीका भी कार्य नहीं है।

ज्ञानको प्रमाण माननेकी स्पष्ट और सुगम वार्ता—भिन्न अतिशयसे यदि कार्यकी उत्पत्ति मान ली जाय और फिर उससे किसीको कारक नाम दिया जाय तो यह तो यों समझो कि कल्पनारूप कारीगरका महल खड़ा करना है। जैसे कल्पनासे कोई महल खड़ा करदे तो वह कल्पनामात्र है वस्तुमें वहां स्वरूप तो नहीं मिल रहा। इस कारण अपनेमें कुटेव छोड़कर सीधी बात मान लें कि ज्ञान प्रमाण है जिसमें प्रकाश मिलता है, जिसमें चिज्ज्योति होती है वह जानन प्रमाण है। उसको छोड़कर अन्य अन्य कारकोंको प्रमाण कहना केवल व्यवहारमात्र है। जैसे लोग यह कहते हैं कि दस्तावेज प्रमाण है, वह अमुक प्रमाण है तो यह सब व्यवहार कथन है। साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही होता है और वह ज्ञान जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक होता है वह ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणके स्वरूपकी व्यवस्थामें जो जो अन्य मंतव्य हो सकते हैं उनका निराकरण किया जा रहा है।

कारकोंमें अतिशयाधान द्वारा सहकारिताका अभाव— प्रमाणके स्वरूप बतानेके प्रसङ्गमें सिद्धान्तपक्ष तो यह है कि सच्चा ज्ञान प्रमाण होता है। इसके विपरीत कारकसाकल्य वादियोंका मंतव्य है कि आत्मा, मन आदिके पदार्थोंका साकल्य प्रमाण है। इस सम्बन्धमें अनेक प्रश्न, विकल्प उठाकर समाधान किया गया है। अब प्रकृतमें यह विकल्प चल रहा है कि सहकारी कारणकी अपेक्षा होनेसे आत्मा और मन आदि कारक एक साथ समस्त प्रमाणोंको उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जिस ज्ञानकी ओर प्रमाणकी आवश्यकता होती है उसकी उत्पत्ति होती है। यह बात निश्चित है कि जब हमारे प्रमाण नाना हो रहे हैं तो प्रमाणके कारणोंमें भी स्वभाव भेद होना चाहिए। वह स्वभावभेद सहकारीकी अपेक्षा रखनेसे होता है। यह पूर्वपक्ष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

की वार्ता है। इस प्रसंगमें यह पूछा गया कि सहकारी कारण इस आत्मा और मनमें कोई अतिशय पैदा करता है तो वह अतिशय भिन्न है या नहीं ? यदि अतिशय भिन्न है तो उत्तर दिया ही जा चुका। यदि अतिशय अभिन्न है तो सहकारी कारणोंमें प्रमाण बनानेके लिये आत्मा, मन आदि कारकोंमें अभिन्न अतिशय किया तो इसका अर्थ यह है कि सहकारी कारणोंने आत्मा और मनको ही उत्पन्न कर दिया, क्योंकि अतिशय हुआ आत्मासे भिन्न। फिर आत्मा आदिक पदार्थ नित्य कहां रहे ? इस कारण सहकारी कारण पदार्थ आत्मा आदिकमें अतिशय उत्पन्न करते हैं यह बात तो बन नहीं सकती।

सहकारियोंमें एकार्थकारिताका अभाव यदि यह पक्ष लें कि आत्मा मन आदिक जो मुख्य कारक हैं वे भी प्रमाण कार्यको करते हैं और सहकारी जो प्रकाश आदिक अनेक कारण हैं वे भी उस कार्यको करते हैं अर्थात् प्रमाणरूप एक कार्यको आत्मा मन आदिक मुख्य कारक और प्रकाश आदिक सहकारी कारण ये सब मिल जुलकर एक साथ उस एक प्रमाणको करते हैं। यदि ऐसा मंतव्य है तो इस सम्बन्धमें हम सहकारी कारणका तो निषेध करते नहीं ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें प्रकाश पदार्थ आदि ये सब सहकारी कारण तो हैं ही लेकिन सहकारी कारण भी तो तब सफल होंगे जब जो मुख्य कारण है उसमें कुछ परिणमन तो हो। अब मुख्य कारण है आत्मा, वह तो रहे अपरिणामी उसमें रंच मात्र परिण मन न हो, तरंग न हो और सहकारी कारण उस प्रमाणको बनादें तो इसके कारण दो आपत्ति होंगी एक तो यह कि जब आत्मा अपरिणामी है तो सहकारी कारण मिले तब भी अपरिणामी सहकारी कारण न मिले तब भी अपरिणामी, तो अतिशब क्या कर दिया ? सहकारी कारण मिलनेसे पहिले भी उन्हें कार्य करना चाहिए तथा आत्मा मन कुछ भी विक्रिया नहीं करते हैं तो सहकारी कारण मिलनेपर भी न करना चाहिये। मित्र तो साधारण सहायक बन सकते हैं, मुख्य काम तो जिसका होना है उसको ही करना पड़ेगा अब आत्मा मन आदिक तो तुम्हरे अपरिणामी रहें और सहकारी कारणने उस कार्यको कर दिया तो इसका अर्थ है कि सहकारियोंने किया; आत्मा आदिकने कुछ नहीं किया, और सहकारी कारण हैं सब अज्ञानरूप, तो कारकसाकल्यके मंतव्य में प्रमाणकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

कारकसाकल्यमें बेजोल मेलका यत्न—ज्ञान प्रमाण है, पदार्थोंका जुट जाना यह प्रमाण नहीं है। यद्यपि अनेक सहकारी कारणोंके रहते संते इस छद्मस्थ अवस्थामें इस अपूर्ण अवस्थामें आत्मा ज्ञान कर पाता है। लेकिन ज्ञानका, प्रमाणका साधकतम कोई भी सहकारी कारण नहीं है। साधकतम है ज्ञान, आत्मा। इस प्रकरणमें मुख्य बात यह समझना है कि कारकसाकल्यवादी आत्माको अपरिणामी मानते हैं। और, आत्मा मन आदिक कारकोंका सान्निध्य जुट जाय उसे प्रमाण मानते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं। इसमें दो दृष्टियां मिली जुली हैं। एक तो उस जैसी दृष्टि जिस मंतव्यमें सारे जगतका मूल एक कोई ब्रह्म है और वह अपरिणामी है इस तरहकी दृष्टि तथा दूसरी दृष्टि वह जैसे लोकव्यवहारमें कहते हैं कि सब सामग्री मिल जायें तो प्रमाणकी बात होगी। जैसे कोई मुकदमा हो तो उसके जितने सबूत करनेवाले कागज हैं, उनका जुड़ाव है तो इन सबके जुड़ावसे प्रमाण सिद्ध करते हैं। यों ही प्रमाण आत्मा मन सब जुट जायें वह प्रमाणकी स्थिति है। इन दोनोंका मिल करके कारकसाकल्यका सिद्धान्त हुआ है।

अपरिणामीके प्रति सहकारिताका अभाव—इसमें आपत्ति निरवाणके प्रसङ्गमें शङ्काकारने यह बात रखी कि आत्मा आदिक तो मुख्य कारण हैं और प्रकाश आदिक सहकारी कारण हैं। ये कारण मिलते हैं तो प्रमाण बनता है। तो इन सहकारियोंने अतिशय तो नहीं किया और एक ही कामको ये जुल मिलकर करें तो आत्मा तो अपरिणामी है, जुड़नेसे पहिले भी कार्यका प्रसङ्ग होगा, फिर यह नहीं कह सकते कि सब मिलकर एक साथ एक प्रमाणको करते हैं, दूसरी बात यह भी सोचनेकी है कि सब साधन जुट जायें फिर भी सहकारी कारण पररूपसे नहीं परिणम सकते। यों कहो कि निमित्त कारण उपादानरूपसे नहीं परिणम सकते। फिर कोई क्या सहकारिता करेंगे ?

परका परमें अननुष्ठान—जैसे कोई कभी बीमार हो जाय तो मित्रजन क्या करेंगे ? इसके रोगको, इसकी बीमारीको कोई खींच न सकेंगे। वे बाह्य रहेंगे, विचार करेंगे, चेष्टा करेंगे, पर कभी पीड़ामें वे साथ नहीं दे सकते। अथवा जैसे किसीका दिमाग कमजोर हो गया हो, कुछ पागलपनकी अवस्था सी हो उस समय रिस्तेदार या मित्रजन उसके बारेमें चर्चा करते हैं, पर कुछ चर्चा करनेवाले उस रूपसे परिणमन करके तो ठीक न कर देंगे। मोहमें लोग चाहते हैं कि इसका आधा रोग हमें लग जाय, इसका रोग तो मिट जाय, पर कोई किसी दूसरेके रूपसे परिणम सकता है क्या ? वस्तुमें ऐसा स्वरूप ही नहीं है। तो ये सहकारी कारण मुख्य कारकोंके रूपसे परिणम ही नहीं सकते। और, फिर यह भी तो सोचिये कि तुम्हारा आत्मा जब परिणमता ही नहीं है, कुछ कार्य ही नहीं करता तो जो स्वयं अकारक है, जिसमें करनेका स्वभाव नहीं पड़ा है वह, अन्य कितने ही सहकारी कारण जुट जायें, कभी कार्य कर ही नहीं सकता। पत्थरोंको कितना ही उबालें पर वे सींझ नहीं सकते जिसमें जो कार्य करनेका स्वभाव नहीं है वह अनेक सन्निधान होनेपर भी उससे हो नहीं सकता।

प्रमाणका स्वरूप और उपकार—देखो भैया ! जबर्दस्तीकी खोजमें कितना बेजोड़ मिलान किया है, आत्मा अपरिणामी है और सब पदार्थ जुट जायें वह प्रमाण है। इन दोनोंका मेल बैठाना कितना दुर्गम हो रहा है, बैठा ही नहीं सकते।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सीधी सी चीज थी ज्ञानज्योतिस्वरूप आत्मा है और उसका जो निर्दोष परिणमन है, निर्दोष ज्ञान है वह प्रमाण है, इस अंतरतत्त्वपर दृष्टि न देकर बाहरी२ पदार्थोंमें उलझ कर कारकसाकल्यको प्रमाण माना जा रहा है। प्रमाण तो वह स्वयं है, ज्ञान है, जो हेयका त्याग करादे और उपादेयको ग्रहण करादे ऐसी बुद्धि उत्पन्न करे वह ज्ञान प्रमाण है। कोई ज्ञान लौकिक प्रमाण होते, कोई ज्ञान अलौकिक प्रमाण होते। तो लौकिक प्रमाणमें भी यह बात पायी जाती है कि उसकी दृष्टिसे जो हेय हैं उसे छोड़दे, जो उपादेय है उसे ग्रहण करले। वह ज्ञान क्या ज्ञान है जिस ज्ञानके होनेपर अहित-कारी चीजको छोड़नेका साहस न हो, अहितकारीको अहितकारी न समझ सके और हितकारीको हितकारी न जान सके। तो ज्ञानातिरिक्त जो मेल जोल संचय हैं वे प्रमाण नहीं है, किन्तु सर्व स्थितियोंमें ज्ञान ही प्रमाण है सुविदित तो यह है प्रमाणरूप परिणमता हैआत्मा। आत्मा यदिअपरिणामी है तो कितनी ही चीजें जुट जायें,प्रकाश-जुटे,मास्टर लगा दें कुछ भी कार्य करें उसमें प्रमाणता हो ही नहीं सकती है। तब तो जो सहकारी कारण हैं वे ही वास्तवमें प्रमाणके करने वाले हुए, अर्थात् प्रकाश प्रमाण हुआ, जगह आदि प्रमाण हुई।

प्रमाण आत्माका अनुपम उपकार—प्रमाण नाम है ज्ञानकी दृढ़ताका। जाननेसे अधिक दृढ़ता मानना है, और प्रकृष्ट माननको अर्थात् सही ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। दृढ़ बात जो खण्डनीय न हो उसे प्रमाण कहते हैं। जैसे लोग पूछते हैं—आपके पास कोई प्रमाण है इस सम्बन्धमें? अर्थात् जिसका खण्डन न किया जा सके ऐसा कोई सबूत है क्या आपके पास? तो इसके सबूत पूर्वपक्षकारके ये बाह्य पदार्थ हैं और जैन दर्शनमें सबूत है ज्ञान। जो प्रमाण है वह ज्ञान ही है। यदि किसीकी कल्पनामें स्थिति ऐसी है कि आत्मा तो कूटस्थ अपरिणामी है और सहकारी कारण जुटाते हैं तब प्रमाण बनता है। तो इसका अर्थ यह है कि अनुपकारी जो आत्मा है जो कुछ भी कार्य नहीं करता उसकी सत्ताकी अपेक्षा किए बिना ही फिर तो सहकारी कारणोंसे प्रमाणकी उत्पत्ति होनी चाहिये। आत्मा मौजूद है, आत्मा जरा भी नहीं परिणमता, न उसमें तरंग उठती और सहकारी कारण वहां प्रमाण बनादें तो इसका अर्थ क्या हुआ? सहकारी कारण भी बेज्ञानके हैं, इसका अर्थ यह है कि सहकारी कारणोंसे ही प्रमाण बना, आत्मा आदिकसे प्रमाण नहीं बना।

नित्यवादकी दृष्टिमें अपरिणामिता— इस प्रसंगमें एक दृष्टि और देखो कि जिन लोगोंने आत्माको कूटस्थ अपरिणामी, अविकारी, अनुपकारी माना है उन्होंने किस नयका हठ किया? ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है जो जैन दर्शनमें न आया हो। वस्तुस्वरूपके बारेमें जितने भी दर्शन हैं वे सब दर्शन जैन दर्शनसे निकले हैं। ऐसा कोई भी वस्तुस्वरूपका निर्देशक दर्शन नहीं है जिसका वर्णन जैन आगममें न हो। वे सब दर्शन सापेक्ष बन जायें तो वह जैन दर्शन कहलाने लगता है और वह एकांत वादमें उतर जाय तो वह एक एकान्तवाद कहलाने लगता है। तो यह आत्मा अपरि-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णामी है अनुपकारी है यह सिद्धान्त कहांसे निकला ? जैन दर्शनमें सभी पदार्थोंको नित्यानित्यात्मक माना है। आत्मा भी नित्यानित्यात्मक है। उसमें नित्यताकी ही दृष्टि करके निरखा तो आत्मा अपरिणामी विदित हुआ।

अपरिणामित्वकी दृष्टि—आत्माकी यह नित्यता किस दृष्टिसे है सो सुनिये यह आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है द्रव्य दृष्टिकी मुख्यता करके सोचते जाइए, परम शुद्ध निश्चयनयकी मुख्यता करके निहारते जाइये। यह एक स्वभावमात्र है और उस स्वभावका कभी परिणमन नहीं होता। इसके दो अर्थ लीजिये। यह आत्मा चैतन्य स्वभावी है। चैतन्य स्वभावको त्यागकर आत्मा किसी अचेतन स्वभाव रूप बन जाय ऐसा नहीं होता। दूसरा अर्थ यह है कि चैतन्यस्वभावी आत्मामें जो भी परिणमन हुआ तरंग हुई, अवस्था बनी ये सब पर्याय दृष्टिका विषय है और केवल द्रव्यदृष्टिको ही निहारें तो स्वभाव अपरिणामी है आत्मा अपरिणामी है, उसमें विकार नहीं है। परिणमन मानना विकार मानना यह पर्यायार्थिकनयका विषय है।

अपरिणामी कारकसे प्रमाणकी अनुपपत्ति—द्रव्यदृष्टिसे जो तत्त्व बसा है आत्मामें वही जिसका सर्वस्व तत्त्व बन गया लो एकान्त हो गया। तो इस तरहका तो आत्मा मानें और फिर प्रमाणके स्वरूपको सिद्ध किये बिना तो किसीकी बात चल ही नहीं सकती सो अपरिणामी आत्मा मानकर फिर प्रमाणको सिद्ध करनेकी बात जब आई तब आत्माको प्रमाणका साधन मुख्य मान लिया जाय तो अपरिणामी-पनेका विनाश हो जाय परिणमन बन जायगा, है तो कारकोंकी आड़ लेनेपर पदार्थोंके सम्बन्ध जुटानेकी बात कहनी पड़ी। आत्मा नित्यानित्य स्वरूप है ऐसा मान लेनेपर कुछ भी व्यायाम नहीं करना पड़ेगा प्रमाण सिद्ध करनेके लिये। स्वयं सीधा मार्ग रखा जा सकता है। तो सहकारी कारण क्या करें यदि मुख्य कारण खुद अपरिणामी हो। जरा कोई आंख उठाकर भी तनिक देख लो ऐसे आदमीके समक्ष तो कुछ सह-कारी लोग कार्य कर भी सकेंगे और जो ऐसा कूटस्थ ठूठ सा बैठा हो कोई पुरुष, न कभी हरकत हुई न होगी ऐसे पुरुषका सन्निधान होना न होना बराबर है। फिर न तो आत्मा प्रमाणका कारण बना न बाह्य साधन भी प्रमाणके कारण बने। प्रमाण-रूप न तो आत्मा परिणम सका न सहकारी कारण परिणम सके और न सहकारी कारण आत्माको परिणमा सके। और आत्मा तो सहकारी कारणोंको परिणमाता ही नहीं है। इससे सभी अकारक हो गए। अब बातका ही उच्छेद हो गया। जैसे कहते हैं बात करनेके द्वार बन्द हो गया, किसीसे भी कुछ उत्पन्न नहीं हो रहा। तब यह मानना चाहिए कि समस्त भाव समस्त पदार्थ स्वरूपसे ही कार्यके करने वाले होते हैं।

पदार्थमें परिणामशीलताका स्वभाव—भैया ! केवल प्रमाण ही क्या, जितने भी जगतमें जो कुछ कार्य हो रहे हैं ये सब निरन्तर हो रहे हैं। किसी भी पदार्थका कोई कार्य बीचमें बन्द हो जाय, कोई पदार्थ ऐसा सोचे या चाहे कि मैं अना-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दिकालसे प्रति समय निरन्तर परिणमता चला आ रहा हूँ कुछ विश्राम लेलूँ एक समयको अपना परिणमन बन्द कर दूँ। ऐसा करनेसे सत्ताका अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थमें निरन्तर कार्य हो रहे हैं, इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से ही परिणमते हैं। विभाव अवस्थामें यह तो हो सकता है कि बाह्य सरकारी कारणोंका सन्निधान पाकर यह अपनी ही सीमामें अपने ही स्वभावके विरुद्ध परिणमन कर जाय वहां भी अपने ही करतबसे, अपने ही परिणमनसे विभाव परिणमन किया पर स्वयं कोई अकारक हो और दूसरे उसे करते रहें तो जैसे यह अकारक है वैसे ही दूसरे भी अकारक हैं। जो नहीं परिणाम सकता उसे हजारों शक्तियां भी आ जायें पर वह परिणाम नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही कार्यके करने वाले हैं।

प्रमाणकी ज्ञानस्वरूपताका निर्णय – अब यह निरखलो प्रमाण नाम क्या है ? ज्ञानकी दृढ़ता। यह ऐसा ही है इस दृढ़ निश्चयका ही नाम तो प्रमाण है। अब विचार करनेकी बात है कि अगर यह निश्चय अज्ञान स्वरूप है तो वह प्रमाण ही क्या, और वह निश्चय ज्ञान स्वरूप है तो यही सिद्ध हुआ कि ज्ञान प्रमाण है। पदार्थोंका मिलन जुलन प्रमाण नहीं, किन्तु ज्ञान प्रमाण है। और वह ज्ञान कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, कभी हुआ कभी और किस्मका हुआ कभी और ढंगका हुआ, ऐसा ज्ञान कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। अथवा स्वतंत्र वस्तु मानें तो ज्ञान और ज्ञानमयका अभेद करके मानना होगा। जो ज्ञानस्वरूप है वह स्वतंत्र वस्तु है। वह आत्मा धर्म है, ज्ञान धर्म है। आत्माके नाना परिणमन होते हैं। जब सम्यग्ज्ञान रूपसे परिणमन हुआ तब वह प्रमाण हैं, जब सदोष ज्ञानरूपसे परिणमा तब वह प्रमाणाभास है, इनकी व्यवस्था सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानसे है, पदार्थोंके जुटावसे नहीं। किसी भी घटनामें अनेक सबूत दिये जानेपर भी वादी प्रतिवादी, जज, श्रोता वकील सब अपना अपना ज्ञान बना रहे हैं और फिर उस ज्ञानसे प्रमाणता उत्पन्न हुई। बाह्य तो सहकारी कारणमात्र हैं। इन बाह्य पदार्थोंसे प्रमाण उत्पन्न नहीं होता, किन्तु आत्माके ज्ञान परिणमनसे ही प्रमाण उत्पन्न होता है।

सर्वथा नित्योंसे कार्यक्रमकी उत्पत्ति सिद्ध करनेकी युक्तिका निराकरण—आत्मा आदिक कारणोंको प्रमाणका साधकतम माननेपर यह आपत्ति दी थी कि तुम्हारे मन्तव्यमें आत्मा आदिक तो नित्य हैं तब समस्त प्रमाण एक साथ उत्पन्न हो जाने चाहिए ? इस समाधानमें शंकाकार यह कह रहा है कि जितने भी कार्य होते हैं वे सामग्रीसे उत्पन्न होनेका स्वभाव रखते हैं अर्थात् किसी कार्यके सम्बन्धमें जिन जिन कारकोंका सद्भाव चाहिए उन सबकी समग्रता हो जाय तो कार्य सामग्रीसे उत्पन्न होता है और सामग्री अनेक कारणोंके समन्वयको कहते हैं। तो समस्त कारण जुट जानेपर कार्य होता है इस कारण प्रत्येक पदार्थ नित्य भी हैं और उनका करनेका स्वभाव भी है। लेकिन जब तक इस तरहकी असमग्रता रहती है, तब तक तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, इसी कारणसे सभी प्रमाण एक साथ नहीं उत्पन्न होते। इस पर आचार्य देव समाधान करते हैं कि कोईसा भी एक भाव चूंकि वह नित्य है तो कार्योंकी उत्पत्ति करनेमें समर्थ है तो समर्थ ही है। फिर किसी भी समर्थ नित्य पदार्थ को अन्य अन्य कारणोंकी अपेक्षा न होना चाहिए। यदि कोई पदार्थ किसी कार्यके करनेमें समर्थ है तो उसको परकी अपेक्षा नहीं है। और यदि परकी अपेक्षा है तो इस का अर्थ है कि स्वयं कार्यमें समर्थ नहीं है।

कारकसाकल्यमें उपादाननिमित्तकी व्यवस्थाका अभाव--एक भी कोई पदार्थ यदि कार्यको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखता है। तो उस कायसे ही कार्य उत्पन्न होना चाहिए। नही तो किसी भी पदार्थमें कार्यके उत्पन्न करनेका स्वभाव नहीं हो सकता। यह बात कही जा रही है उस सिद्धान्तके लिए जो सिद्धान्त उपादान निमित्त की व्यवस्था न करके केवल सब कारणोंके जुटनेसे कार्य होता है इतना भर मानते हैं और इस मान्यतामें उस कार्यके प्रति सभी कारकोंका एक समान स्थान दिया जाता है वहां यह आपत्ति आयी। यदि किसी एक पदार्थको उपादान मान लें और अनेक पदार्थ निमित्त बने रहें और उनका निमित्त पाकर उस पदार्थमें कार्य चलता रहे तो यह तो वस्तुस्वरूपके अनुकूल ही बात है और ऐसा होता है। जैसे रोटी बनी तो उस का उपादान तो आटा है और निमित्त है बनाने वाला, अग्नि, चकला, बेलन, पानी आदि जिन जिन साधनोंकी वहां जरूरत हुई वे अन्य पदार्थ निमित्त कारण हैं जो कि रोटी रूप तो न परिणम सकें, परन्तु जिनके सन्निधान बिना रोटीका कार्य नहीं बन सकता। तो यहां उपादान और निमित्तकी व्यवस्था है। यदि यहां भी रोटी नामक कार्यके लिये आटा, चकला, बेलन सबका एकसा ही बने, उपादान निमित्तकी व्यवस्था न रहे तब वहां ये सारे प्रश्न उठ सकते हैं कि किसी एक पदार्थमें रोटीको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है या नहीं, यदि है तो एक साथ वह सब कार्य हो जाना चाहिए। और, यदि किसीमें सामर्थ्य नहीं है तो सबका मिलकर भी न होना चाहिए। लेकिन जो उपादान निमित्तकी व्यवस्था है उस व्यवस्थामें यह आपत्ति नहीं आती।

प्रमाणके प्रसङ्गमें उपादाननिमित्तकी व्यवस्था– उपादान कारण जिस योग्य परिणमनरूप है अपनी योग्यताके अनुसार बाह्य पदार्थोंका निमित्त पाकर परिणम जाता है, यही बात छद्मस्थ जीवोंके ज्ञानकी है, प्रमाणकी है। हम आप सब आत्मा प्रमाणरूप परिणमते हैं इस प्रमाणका उपादान आत्मा है। भेदविवक्षासे साधकतम ज्ञान है और उस ज्ञानविकासमें, इस अपूर्व अवस्थामें इन्द्रिय, प्रकाश, पदार्थकी सन्मुखता इन सबकी आवश्यकता होती है। तो ये सब निमित्त कारण हुए किन्तु प्रमाण तो ज्ञान ही हुआ, क्योंकि प्रमाणरूप परिणमा है ज्ञान अथवा आत्मा। इन सब सन्निधानोंके होनेपर भी प्रकाश कहीं ज्ञानरूप नहीं परिणमा, प्रमेय पदार्थ कहीं ज्ञानरूप नहीं परिणमा। तो उपादान और निमित्तकी व्यवस्थामें तो कार्यकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रणाली सही हो जाती है, किन्तु उपादान निमित्तका कोई मंतव्य न मानें और किसी भी एक कार्यमें सबका बराबर सामर्थ्य समझें तो वहां ये सब आपत्तियां बनती हैं।

कारकसाकल्यमें कार्यजननस्वभावकी असिद्धि इस सामग्रीप्रमाणवादी ने यह माना है कि जो कुछ भी प्रमाण बनता है वह ज्ञानरूप अज्ञानरूप सभी पदार्थों के मिलनेसे बनता है। तो उस सामग्रियोंमें यदि सबका कार्य उत्पन्न करनेका स्वभाव है और वह है नित्य तो एक-एक अलग-अलग भी सारे कार्योंको करते रहें नहीं तो किसीमें भी कार्य उत्पन्न करनेका स्वभाव नहीं हो सकता। जो जिस पदार्थको नहीं उत्पन्न करता उसे उस पदार्थके उत्पन्न करनेका स्वभाववाला न समझिये। जैसे गेहूँ जौके अंकुरोंको उत्पन्न नहीं कर सकता। तो गेहूँमें जौंको उत्पन्न करनेका स्वभाव न समझिये और यहां आपमें भी किसी पदार्थको इस प्रमाणरूप कार्यके उत्पन्न करनेका स्वभाववाला न मानें तो प्रमाण उत्पन्न हो ही नहीं सकता अथवा कोई एक इस प्रमाणकार्यको न करनेवाला है तो प्रमाणके उत्पन्न करनेका स्वभाववाला भी वह नहीं है।

ज्ञानके साधकोंका निरूपण—चीज यों स्पष्ट है कि हम आप जीव हैं, ज्ञानस्वभावी हैं, हम आपका ज्ञानरूप परिणमन होता है जो ज्ञान पक्का और सत्य होता है वह प्रमाण है। जो ज्ञान सदोष है, जिसमें कमजोरी है, संशय विपरीतता आदिक ऐब हैं वह प्रमाणाभास है। हम आपके इस ज्ञानमें अनेक और कारण भी चाहिएँ तब ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम, पदार्थोंकी अभिमुखता आदिक योग्य भावोंकी सन्निधि फिर भी प्रमाणरूप तो ज्ञान बना ये पदार्थ नहीं बने। ये पदार्थ बाह्य साधन हैं इस कारण प्रमाणों उत्पत्ति होना, न उत्पत्ति होना सब बातें बन जाती हैं। लेकिन जहां प्रमाणरूप एक कार्यमें सारे कारण एक समान अपना स्थान रखते हों वहां किसको मुख्य कारण कहा जाय, किसे गौण कहा जाय। मुख्य और बाह्य विभाग बने बिना यह नहीं कहा जा सकता कि प्रमाण किसका परिणमन है, किसकी क्रिया है?

कारकोंमें स्वभावभेदके अभावकी असिद्धि—नित्य आत्मा आदिकसे प्रमाण होता है तो सारे प्रमाण एक साथ होना चाहिए और यदि नहीं होता है, प्रमाणको उत्पन्न करनेका स्वभाव नहीं है तो कभी कुछ प्रमाणे होना ही न चाहिए। इसपर शङ्काकार कहता है कि आत्मा मन आदिकमें प्रमाण उत्पन्न करनेका सामर्थ्य तो है किन्तु अनेक बाह्य कारणोंकी अपेक्षा करके प्रमाण कार्यको उत्पन्न करनेका कारकोंमें स्वभाव है, इस कारण कोई भी कारक अकेला प्रमाणको उत्पन्न नहीं करता और इस सम्बन्धमें समाधानकर्ता यह आपत्ति नहीं दे सकता कि जब आत्मा सहकारी के सन्निधानमें तो प्रमाणका उत्पादक है और सहकारी कारण न मिले तो प्रमाणका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनुत्पादक है तब कैसे इस तरह आत्मामें स्वभावभेद न बन जायगा, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि आत्मा आदिक कारकोंमें इसका ऐसा एक स्वभाव माना है कि यह आत्मा आदिक अन्य बाह्य कारणोंका सन्निधान पाकर कार्य उत्पन्न करनेका स्वभाव रखता है। इसके दो स्वभाव नहीं माने ? एक ही स्वभाव माना है आत्मामें कि अनेक कारणोंकी अपेक्षा रखकर यह आत्मा प्रमाण ज्ञानरूप कार्यको उत्पन्न करता है, ऐसा शंकाकारका कथन है, वह भी युक्त नहीं है क्योंकि स्वभाव भेद तो स्पष्ट हो गया, अन्य साधनोंकी उपस्थिति पाकर कार्य करना और अन्य साधनोंकी उपस्थिति न मिले तो कार्य न करना, ये दो स्वभाव तो आत्मामें आ गए ना। तो आत्माको कार्य करने का स्वभाव तो स्वयंकी ओरसे नहीं रहा। स्वयंकी ओरसे तो कार्यकारिताका स्वभाव तब कहलायेगा कि अन्य कारणोंका सन्निधान हो न हो, यह अपने आप कार्य करता रहे तब तो स्वयंकी कार्यकारिता कहलायेगी। और यदि ऐसा मानते हो तो यह स्वभाव पहिले भी था सो पहिले ही कार्य हो जाना चाहिए अर्थात् सदैव इस आत्मा से समग्र प्रमाण उत्पन्न होना चाहिए।

कारक साकल्यकी मूल व्यवस्था—यहांकी व्यवस्थाकी बात चल रही है संसारी प्राणियोंमें कभी प्रमाण उत्पन्न होता है कभी झूठा प्रमाण उत्पन्न होता है तो उसके स्वरूपकी व्यवस्था बताई जा रही है कि वह प्रमाण उत्पन्न किस तरह होता है कारकसाकल्यवादी यह मानते हैं कि जब तक कार्यके लिये दसों साधनोंकी आवश्यकता हुई और उन दसोंमेंसे एक भी कम हुआ तो कार्य नहीं बना और दसों जुटे तो कार्य बना, ऐसी स्थितिमें हम उन दसोंमेंसे किसका अतिशय बतादें कि यह काम इस का है इस कारण कारकसाकल्यवादी उस कार्यको दसोंकी सामग्रीका बताते हैं। दसों के साकल्यका बताते हैं। दसों जुट गये तो कार्य हुआ और उनमेंसे एक भी कम हुआ तो कार्य नहीं हुआ सो ऐसी स्थितिमें दसों जुट जानेपर कार्य हो जानेके बाद आप किसका अतिशय बतावेंगे, किसका कार्य बतावेंगे ? वह तो दसोंका कार्य है।

वस्तुपरिणमनव्यवस्था—वस्तु परिणमन व्यवस्थामें तथ्य यह है कि कोई सा भी कार्य होता है उस कार्यमें एक पदार्थ तो उपादान रहता है और शेष पदार्थ निमित्तरूप रहते हैं। यद्यपि कोई कोई कार्य जो विभावरूप होते हैं वे कार्य अन्य निमित्तोंके असन्निधानमें उत्पन्न नहीं होते। निमित्तका सन्निधान पाकर उपादानमें कार्य प्रकट होता है तिसपर भी वह कार्य दसोंका न कहलायेगा, कार्य एकका कहलायेगा, बाकी ९ निमित्त कहलायेंगे। इस व्यवस्थामें आपत्तियां एक नहीं रहतीं।

निरतिशयमें कारणान्तरोंसे अतिशयकी असंभवता—सामग्रीप्रमाणवादियोंके मंतव्यमें कारक तो है आत्मा और मन। इनका संयोग तथा बाह्य साधन है पदार्थका सामने होना प्रकाशका होना इंद्रियका समर्थ होना। तो इन सब प्रत्यान्तरोंसे आत्मा मन आदिक कारकोंका अतिशय उत्पन्न होना बताते हैं। तो अतिशयको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपेक्षा तो उपकारकोंमें हुआ करती है, जो कुछ कर सके और जिसमें कुछ किया जा सके तो अतिशयकी व्यवस्था बनती है अन्यथा यदि अनुपकारक कारणोंसे भी अतिशय बन जाय तो बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। मिट्टीसे घड़ा बनाना है तो जुलाहेसे फिर उसमें अतिशय पैदा करादें क्योंकि अटपट कारणोंसे भी अतिशय बनने लगे। तो अनुपकारक जो कारण हैं उनका मौजूद होना न मौजूद होनेकी तरह है। मानना आपको यह हर जगह पड़ेगा कि प्रत्येक कार्य केवल एक केवलमें हुआ करता है। ज्ञानका उपादानकारण तो आत्माको मा लें और बाकी सबको बाह्य निमित्त मानलें तो कुछ आपत्ति नहीं रहती।

कारकोंमें विरुद्ध धर्मोंका अध्यास– लोकमें प्रमाणरूप कार्यमें सबका एक स्थान रहे और सबका साकल्य हो, समूह हो तब वह उत्पन्न होता है, यों उस कार्यमें साकल्यस्वरूप मानना यह युक्तिविरुद्ध बात है। वहां केवल यदि कोई कार्यको करता है तो सभी कार्य एक साथ होने चाहियें और केवल यदि कार्यको नहीं करता, कुछ सामग्री मिलनेपर कार्य उत्पन्न होता है तो फिर कारकमें करणस्वभावता व एकस्वभावता नहीं रही, क्योंकि बाह्य सामग्री मिलनेपर कार्य करना और बाह्य सामग्री न मिलने पर कार्य न करना ऐसे विरुद्ध दो धर्म आ गए तब स्वभावभेद बन ही गया। इस प्रकार कारकसाकल्यका कोई स्वरूप नहीं बनता। अतः प्रमाण सीधा ज्ञानको मान लीजिए, कारकोंके जुटावको प्रमाण नहीं म नो वहां यह व्यवस्था तो बना लीजिए कि प्रमाण तो ज्ञान है और वह आत्माका कार्य है और उस उत्पत्तिमें किसी परिस्थितिमें बाह्य साधन कारण हुआ करते हैं। इसके विरुद्ध अज्ञानरूप अथवा ज्ञानरूप सामग्रीको, साकल्यको कारण मानना युक्त नहीं है।

साकल्यकी अनुपपत्ति – अब अन्तिम बात इस प्रसङ्गमें यह पूछ रहे हैं कि खैर, थोड़ी देरको इतनी बात मान लें कि समस्त कारकोंका साकल्य प्रमाणका साधकतम है तो यहां अब ये दो बातें हो गयीं– एक समूह बना और उस समूहको जो बना रहा हो वह अर्थात् याने वे सब कारक पदार्थ। तो वह साकल्य कैसे बना? क्या समस्त कारक साकल्योंके उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होते हैं या कुछ कारक साकल्यको उत्पन्न किया करते हैं? अर्थात् समूहको सब कारक मिलकर बनाते हैं? यदि सब पदार्थ साकल्यको उत्पन्न करते हैं तो अभी साकल्यका स्वरूप ही नहीं बन पाया तो उनको हम सकल मानने लगें यह भी असिद्धि है। दूसरी बात यह है कि साकल्यकी सिद्धि हो तो मालूम पड़े कि इसका नाम सकल है। जब सकल समझमें आये तो साकल्यकी सिद्धि हो। यों अन्योन्याशय दोष हो गया। तो सब सकल कारक मिलकर साकल्य उत्पन्न करते हैं और वह साकल्यप्रमाणका साधकतम है इस तरह साकल्य प्रमाण बनता है, ये सब बातें कपोल कल्पनाकी चीजें हुई। यदि कहें कि दो चार कारक मिलकर साकल्यको सिद्ध करते हैं तो इसमें तो अव्यवस्था है, कभी कोई कभी कोई साकल्यको उत्पन्न करदे तो प्रमाण अप्रमाणकी कुछ व्यवस्था ही न रही।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रमाणमें करणान्तरकी कल्पनाका व्यर्थ प्रयास – भला, जिस स्वभावसे तुम इन पदार्थोंको चाहे वे सकल हों या असकल, साकल्यको उत्पन्न करनेवाला मानते, उसी स्वभावसे प्रमाणको उत्पन्न करनेवाला क्यों नहीं मान लेते ? व्यर्थमें क्यों एक बीचमें साकल्यकी कल्पना करते ? शायद यह कहो कि कोई भी कार्य करणके बिना नहीं होता, लिखनेकाकार्य लेखनी बिना नहीं होता तो प्रमाणका भी कार्य किसी करण द्वारा तो होना चाहिए। तो साकल्यकी कल्पना सही है, तो कहते हैं कि प्रमाणके उत्पन्न होनेमें करण तुमने साकल्य माना तो साकल्यके बननेमें करण दूसरा मानो फिर उसका करण तीसरा मानो, इस तरह करणकी ही अनवस्था हो जायगी।

कारकसाकल्यकी अध्यक्षसिद्धताका अभाव अन्तमें एक सीधे स्पष्टरूपसे शङ्काकार यों बात रख रहा है कि भाई यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि पदार्थोंकी सामग्री जुटती है तब प्रमाण बनता है, इसमें दोषकी क्या बात है ? जो हेरफेरकर तुम हमारे मंतव्यका खण्डन करते हो ? समाधान यह दिया जा रहा है कि प्रत्यक्ष सिद्ध होता तो हम खण्डन कैसे करते ? आत्मा और मनका संयोग ये सब अतीन्द्रिय बातें हैं। इसमें प्रत्यक्षकी गति ही नहीं हो रही, केवल कुछ एक अनुमानसे यों कहदें कि जब किसी विशिष्ट अर्थकी उपलब्धि हो रही है तो उसमें कोई करण अवश्य है। और, वह करण साकल्य है या कुछ भी है। यों हम करणकी कल्पना मानते हैं और इस तरहसे हमारा साकल्य सिद्ध होता है। कहते हैं कि यह भी बात युक्त नहीं है कारण कि साकल्यका स्वरूप ही सिद्ध नहीं है। सब कारकोंको, साकल्यको एक समान स्थान मानकर प्रमाण माना जाना युक्त नहीं है। दूसरे यह आत्मा और मन प्रत्यक्ष भी नहीं है और जिनको यह आत्मा पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है उनके यहां सब ही प्रमाण है, केवल ज्ञान है, सर्वज्ञता है, वहां प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था करने हम नहीं जा रहे, हम तो इस लोकव्यवहारमें और जब तक उस सर्वज्ञपदकी प्राप्ति नहीं हुई है, तब तकके प्रसङ्गमें प्रमाण और अप्रमाणके व्यवस्थाकी बात कह रहे हैं। इसमें सकल कारकोंका प्रसङ्ग कारकसाकल्य है यह बात भी तुम्हारी नही बनती।

कारकसाकल्यकी प्रमाणताका निराकरण – देखिये ! कारकसाकल्यके स्वरूपकी ही सिद्धि नहीं है। तुम क्या स्वरूप मानते हो ? सकल कारकोंका नाम साकल्य है, इसका भी खण्डन किया। कारकोंका धर्म भी साकल्य नहीं है, कारकोंका कार्य भी साकल्य नहीं है। अब क्या इन पदार्थोंसे भिन्न अन्य पदार्थको साकल्य मानोगे ? यदि अन्य पदार्थोंको साकल्य मानोगे तो सभी साकल्य हो गए। तो हमेसा ही प्रमाण होते रहना चाहिए। तो सभी जीव सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जायेंगे। तो कारक साकल्य प्रमाण नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप नहीं बनता और कदाचित् स्वरूप भी बन जाय तो ज्ञानका व्यवधान हो गया। अर्थात् प्रमाणका कारण साक्षात् तो ज्ञान है और अन्य कारण एक व्यवहित कारण है। इसलिए प्रमाण ज्ञान ही है। ज्ञानको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

छोड़कर अन्य-अन्य बातें प्रमाण नहीं हैं। यहां तक कारकसाकल्यका प्रकरण चला। अब सन्निकर्ष प्रमाण है, इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है इसपर चर्चा चलेगी।

सन्निकर्षके प्रामाण्यका पूर्वपक्ष— इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण मानने वाले दार्शनिक कह रहे हैं कि कारकसाकल्य तो असिद्ध स्वरूप है, अतएव उसमें प्रमाणता नहीं है तो न होओ, अपने सन्निकर्षका स्वरूप तो सिद्ध और प्रमितिकी उत्पत्तिमें साधकतम है अतः सन्निकर्ष तो प्रमाण होना ही चाहिए। सन्निकर्षका अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होना. जैसे जब आंखोंसे देखते हैं तो लोकमें भी यह व्यवहार किया जाता है कि आंखकी और पदार्थकी भिड़न्त हुई। जैसे किसी पुरुषका किसी दूसरे पुरुषसे मिलाप होता है तो कहते हैं आंखसे आंख भिड़ी, ऐसे ही पदार्थ से इन्द्रियका सन्निकर्ष हुआ और जब सन्निकर्ष हुआ तब प्रमाणता आती है। जब किसी वस्तुको हाथसे छूते हैं तो स्पर्शका ज्ञान होता है और वह प्रमाण होता है। जब रसना इन्द्रियसे किसी पदार्थका सम्बन्ध होता है तो रसका ज्ञान होता और वह प्रमाण होता है। जब रसना इन्द्रियसे किसी पदार्थका सम्बन्ध होता है तो रसका ज्ञान होता और वह प्रमाण होता है, ऐसे ही आंखसे जब हम किसी पदार्थको निरखते हैं तो नेत्र इन्द्रियका पदार्थसे सम्बन्ध हुआ और उसमें ज्ञान हुआ और प्रमाण हुआ। इस तरह सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थका भिड़न्त प्रमिति क्रियामें साधकतम है, इन्द्रिय और पदार्थमें भिड़न्त हुए बिना न ज्ञान होता और न प्रमाण होता है, तब सन्निकर्ष प्रमाण है। स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है ऐसा सन्निकर्षवादी अपना मंतव्य रख रहे हैं।

सन्निकर्षके स्वरूपका विवरण— सन्निकर्षके सम्बन्धमें बहुत प्रसिद्ध बात है कि नेत्रका और घटका संयोग हुआ, सब लोग कहते हैं। चक्षुसे ग्रहण करके घटका जो परिज्ञान हुआ वह प्रमाण है क्योंकि इन्द्रियका और घटका संयोग हो गया और घटमें जो रूप है, जो काला नीला आदिक रूप है उस रूपका घटसे है समवाय और घटसे है नेत्रका संयोग। तो नेत्रका रूपसे संयुक्तसमवाय हो गया। जैसे यह घड़ी है, बहुत प्रसिद्ध बात है कि हम यह कहते हैं कि नेत्र और घड़ीकी भिड़न्त हुई तब हमने जाना कि यह घड़ी है। तो घड़ीका जो कुछ आकार है इस आकारसे भिड़न्त हुई, तो घड़ीसे नेत्रका संयोग हुआ, पर घड़ीमें जो रूप है, सफेदी है, इस सफेदीसे आंखका संयोग नहीं हुआ, किन्तु घड़ीमें समवायसम्बन्ध से रहनेवाला जो रूप है तो रूपवाली घड़ीका संयोग हुआ सो नेत्रका रूपसे संयुक्तसमवाय है याने इन्द्रियसे संयोगमें आने वाली घड़ीमें रूपका समवाय है। समवायका अर्थ है तादात्म्य जैसा सम्बन्ध। घड़ीमें रूप तादात्म्य सम्बन्धसे रह रहा है ऐसा तो जैन सिद्धान्त कहता है, सन्निकर्षवादी तादात्म्यसम्बन्धको नहीं मानते, समवाय सम्बन्ध मानते हैं।

समवाय सम्बन्ध माननेका कारण— समवाय सम्बन्ध माननेका उनके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दर्शनमें यह कारण है कि ये द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय और अभाव इस प्रकार ७ पदार्थ माने हैं। जैन सिद्धान्तमें तो एक पदार्थ है जो सत् है जिसे द्रव्य कहते हैं, द्रव्य गुणमय है, द्रव्य पर्यायमय है। द्रव्यमें ही सामान्यका बोध है, द्रव्यमें ही विशेषका बोध है और किसी द्रव्यरहित द्रव्यके पाये जानेका नाम अभाव है। जैसे कोई कहे कि अमुक कमरेमेंसे समयसारकी पुस्तक उठा लावो और वहां समयसारकी पुस्तक है नहीं कहा गया कि चौकीपर पुस्तक रखी है सो उठा लावो। तो यह आदमी गया और कमरेमें देखकर कहता है कि वहां तो पुस्तक नहीं है, तो यह कहता है कि तूने आंखों देखा है कि वहाँ पुस्तक नहीं है ? तो वह कहता है—हां हमने खूब देखा, वहां पुस्तक नहीं है। तो पुस्तकका जो अभाव है वह भी दीखनेकी चीज है क्या ? उसने क्या देखा जिसे यह कहता है कि हमने खूब देखा वहां पुस्तक नहीं हैं। तो उसने पुस्तकरहित चौकीको देखा। तो केवल चौकीके देखनेका ही नाम है पुस्तकका अभाव। अभाव नामकी कोई अलग चीज नहीं है, किन्तु वहाँ अभावको भी अलग तत्त्व माना गया है। तो जहां द्रव्य, गुण आदिक पदार्थ न्यारे–न्यारे हैं तो द्रव्यमें गुण तादात्म्यसे रहते हैं फिर यह नहीं कह सकते। तादात्म्यका तो अर्थ है कि वही आत्मा है उसका। तो जब जुदे–जुदे पदार्थ मान लिये द्रव्यगुणको तो समवाय सम्बन्ध उन्हें मानना पड़ा। समवाय सम्बन्ध संयोगकी अपेक्षा विशिष्ट निकट सम्बन्ध है, तो नेत्रका तो है घड़ीसे संयोग और नेत्रका रूपसे है संयुक्त समवाय और रूपमें जो रूपत्व है उस रूपत्वके साथ है नेत्रका संयुक्त समवेत सम्बन्ध अर्थात् रूपमें रूपत्वका समवाय है, तो नेत्रका घड़ीसे संयोग है नेत्रका रूपसे संयुक्तसमवाय है और नेत्रका रूपत्वसे समवेत समवाय है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है और समझमें आ सकती है तो हमारा सन्निकर्ष ही ज्ञानका जनक है और प्रमाण है ऐसा सन्निकर्षवादी कहते जा रहे हैं।

समवाय सम्बन्धके मूलमें सत्त्वभेद – यहां एक प्रश्न हो रहा है कि जैसे उन्होंने द्रव्य गुण क्रियाको जुदा पदार्थ माना है इसी प्रकार जैन सिद्धान्तमें भी तो ६ पदार्थ कहे गए हैं फिर उनको जुदे पदार्थ माननेका निराकरण क्यों किया गया है ? उत्तर – कहे गए हैं कहीं कहीं ६ पदार्थ, लेकिन वहां पदार्थका अर्थ है पदका अर्थ। जो पद कहा है, जो शब्द कहा है उसका वाच्य जो कुछ ज्ञेय है वह है पदार्थ। भिन्न सत् वाला है ऐसा पदार्थका अर्थ नहीं है। मूल पदार्थ तो वहां दो ही हैं —जीव और अजीव। जीवमें अजीवके आनेका नाम आश्रव है, सो यह आश्रव जब उभयदृष्टि से देखें तो जीवगत है और अजीवद्रव्यदृष्टिसे देखें तो अजीवगत है, किन्तु वहां ७ पदार्थ भिन्न–भिन्न सत् माने गए हैं। और, उनका समवाय सम्बन्ध माना है, उस सिद्धान्त में द्रव्य और द्रव्यका तो संयोग सम्बन्ध है और द्रव्यके साथ गुण कर्म सामान्य विशेष आदिकक समवाय सम्बन्ध होता है। यों समझिये कि अति निकट और विशिष्ट संबंध का नाम समवाय है और बाह्य सम्बन्धका नाम संयोग है।

सन्निकर्षकी प्रमितिक्रियामें साधकतमताके समर्थनका पक्ष— सन्निकर्ष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रमाण ज्ञानकी सर्व स्थितियोंमें निहारलें, इन्द्रियका और पदार्थका जब भिड़न्त हो, सम्बन्ध हो तब ज्ञान होता है, तो सन्निकर्ष प्रमाण है और सन्निकर्ष ही ज्ञानका साधकतम है, जो साधकतम हो सो प्रमाण है। यहां ज्ञान और अज्ञानकी बात नहीं है। जाननेका नाम प्रमाण नहीं है और अज्ञानका भी नाम प्रमाण नहीं है, किन्तु जो प्रमिति क्रियामें साधकतम हो वह प्रमाण है। ज्ञानका नाम प्रमाण क्यों नहीं है ? यों कि ज्ञानके साथ प्रमाणका नियम नहीं है कि जो जो ज्ञान हो सो प्रमाण है। संशय ज्ञान, विपर्ययज्ञान, वे भी तो ज्ञान हैं, पर प्रमाण कहां ? और अज्ञान भी प्रमाण नहीं ऐसा भी नहीं है, जैसे ये प्रमेय पदार्थ हैं ये पदार्थ न हों तो ज्ञान कहांसे हो ? तो जानकारीकी क्रियामें ये पदार्थ साधकतम हैं कि नहीं ? साधकतम हैं और प्रमाण हो रहे हैं। तो ज्ञान होना या अज्ञान होना इनकी प्रमाणताके साथ व्याप्ति नहीं है किन्तु तो जानकारीमें, प्रमिति क्रियामें साधकतम हों, जिसके बिना ज्ञान न हो सके वह प्रमाण है और वह साधकतम है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध। इसलिए सन्निकर्ष प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण है, ऐसा सन्निकर्षवादी कह रहे हैं।

सन्निकर्षकी प्रमितिक्रियामें साधकतमताका अभाव—अब इसका समाधान सुनिये ! सन्निकर्षवादियोंने जो यह युक्ति दी थी कि प्रमितिकी उत्पत्तिमें साधकतम सन्निकर्ष है यह बात गलत है। सन्निकर्ष जानकारी उत्पत्तिमें साधकतम नहीं है। साधकतमका अर्थ होता है जो खास साधन हो। जैसे पेन्सिलके छीलनेमें चाकू साधनतम है, पेन्सिल भी ले लो और आदमी भी बैठा हो और चाकू न हो तो पेन्सिल छीलें कैसे ? बहुत प्रसिद्ध बात है कि छेदनक्रियामें साधकतम चाकू है ऐसे ही जानकारीकी क्रियामें साधकतम सन्निकर्षको कहते हो यह बात सही नहीं है। क्योंकि साधकतम उसे कहते हैं कि जिसके सद्भावमें प्रमितिकी भाववत्ता हो अर्थात् जानकारी हो और जिसके अभावमें प्रमितिकी अभाववत्ता हो याने जानकारी न हो वही तो साधकतम है जिसके होनेपर कार्य हो और जिसके न होनेपर कार्य न हो वही तो कार्यमें साधकतम है, पर यह बात सन्निकर्षमें सम्भव नहीं है क्योंकि सन्निकर्षका सद्भाव होनेपर भी कहीं-कहीं जानकारी नही बनती और कहीं-कहीं सन्निकर्ष न होनेपर भी जानकारी हो जाती है, इस कारण सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

सन्निकर्ष होनेपर प्रमाणकी अनुपपत्ति—ऐसी कौनसी परिस्थितियां हैं कि जहां इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध भी हो रहा है और फिर भी जानकारी नहीं हो रही ? प्रथम तो वही परिस्थिति ले लो। यहां इंद्रियोंका और आकाशका सम्बन्ध है और जानकारी नहीं हो रही आकाश की। आकाशसे भी इंद्रियोंकी भिड़न्त है पर आकाश तो जान नहीं रहा है, इसी प्रकार और और भी सूक्ष्म मूर्त पदार्थ व अमूर्त पदार्थ हैं, उनके साथ भी इन्द्रियका सम्बन्ध है, जहां इन्द्रिय है वहां वह भी हैं, पर नहीं जानकारी होती है। तो यह तो समझ लीजये कि इन्द्रियका संयोग होनेपर भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जानकारी नहीं हो रही है. अब दूसरी बात सुनिये ! इन्द्रियका संयुक्त समवाय होनेपर भी जानकारी नहीं हो रही है, जैसे इस घड़ीसे आंखोंका संयोग है और घड़ीमें रस भी तो है, तो घड़ीमें जैसे रूपका समवाय है ऐसे ही उसमें रसका भी समवाय है, और आंखका रससे संयुक्त समवाय हो रहा है पर ज्ञान तो रसका नहीं हो रहा है। आँख का घड़ीसे संयोग है और घड़ीमें रसका समवाय है तो रसके साथ संयुक्त समवाय हो गया कि नहीं ? मगर जानकारी नहीं हो रही। तीसरी बात संयुक्त समवेतसमवाय की देखो--इस घड़ीमें रसका समवाय है और रसमें रसत्वका समवाय है तो आंखोंका रसत्वके साथ संयुक्तसमवेतसमवाय हो गया मगर रसत्वका ज्ञान तो नहीं हो रहा। यदि सन्निकर्ष होनेपर भी ज्ञान नहीं होता तब सन्निकर्ष जानकारीमें साधकतम किस तरह है ?

सन्निकर्षमें सम्बन्धकी प्रधानता—यहां एक शंका उठी है कि नेत्र इंद्रिय का रस विषय ही नहीं है तो रसके साथ नेत्रइंद्रियकी व्यभिचारिता क्यों दिखाई जा रही है ? यहां यह बात कह रहे हैं कि नेत्रका रसके साथ संयुक्तसमवाय है अर्थात् नेत्र इंद्रियके संयोगमें आयी हुई घड़ीमें रसका समवाय है, रसके साथ इंद्रियका साक्षात् सम्बन्धकी बात नहीं कह रहे, रससे इंद्रियका साक्षात् सम्बन्ध होता ही नहीं जब कभी भोजन करते हैं तो उस समय भी रसका रसना इद्रियसे सम्बन्ध नहीं होता। साक्षात्, किन्तु रसना इद्रियसे भोज्य पदार्थका सम्बन्ध होता है और भोज्य पदार्थमें है रसका समवाय तो वहां भी इन्डाइरेक्ट सम्बन्ध है। ऐसे ही इन्डाइरेक्ट संयुक्तसमवायका सम्बन्ध है नेत्रेन्द्रियसे रसका भी संयुक्त समवाय है। नेत्रका रससे समवाय नहीं कह रहे, न नेत्रका रससे समवाय है, न रूपका नेत्रसे समवाय है, किन्तु संयुक्त चीजमें समवाय सम्बन्धसे रहनेवाला जैसा रस है वैसा ही रूप है। इंद्रियके संयोगमें जो चीज आयी है उसमें जितनी भी समवाय सम्बन्धसे रहने वाली बातें हैं उन सब का नेत्रइंद्रियसे संयुक्त समवाय सम्बन्ध है लेकिन ज्ञान नहीं होता। यहां विषयकी बात नहीं कही जा रही है। विषयकी बात कही जाय तो सन्निकर्ष नहीं रहा। सन्निकर्षमें तो सम्बन्धकी बात है। तो केवल सम्बन्धकी दृष्टिसे निहारना है यह बात। विषयके तो मायने ज्ञानका सम्बन्ध है, ज्ञानकी बात कही जा रही है। ज्ञान प्रमाण है यह तो जैन दर्शनका सिद्धान्त है। सन्निकर्ष प्रमाणकी बात तो उस सन्निकर्षमें सम्बंध की दृष्टिसे निहारना है। तो इंद्रियका संयोग होनेपर भी, इंद्रियका संयुक्तसमवाय होनेपर भी इंद्रियका संयुक्तसमवेतसमवाय होनेपर भी ज्ञान नहीं होता अतः सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

सन्निकर्षके अभावमें भी प्रमाणकी उत्पत्ति—अब कुछ परिस्थितियां ऐसी देखिये कि जहां सन्निकर्षका अभाव होनेपर भी जानकारी बन जाती है, प्रमाण हो जाता है। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है। जैसे अनेक विशेषताओंको समझकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विशेष्यका ज्ञान हो जाता है, उस विशेष्य ज्ञानमें इन्द्रियका कहां सम्बन्ध रहा ? आपसे पूछें कि छतरीवाला किसे कहते हैं ? तो आप कहेंगे कि जिसके पास छतरी है वह छतरीवाला है। तो न तो छतरीमें इन्द्रियका संयोग हुआ न छतरीवालेमें इन्द्रियका सं.ग हुआ, सन्निकर्ष तो कुछ नहीं हुआ, पर विशेषणका ज्ञान करनेसे विशेष्यकी जानकारी हो गयी। तो यहां ज्ञान प्रमाण रहा या सन्निकर्ष प्रमाण रहा ? इससे यही निर्णय रखो कि ज्ञान ही प्रमाण है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण नहीं है।

सन्निकर्षमें योग्यताके आलम्बनका उपक्रम—यदि सन्निकर्षवादी यह कहे कि सन्निकर्षमें भी योग्यता मानी जा सकती है। घटका और आकाशका यद्यपि इंद्रिय से सम्बन्ध हुआ है लेकिन यह नेत्र इन्द्रिय घटको ही जान सकती है, आकाशको नहीं जान सकती है। इन्द्रियका घड़ीके रूपसे संयुक्तसमवाय है और घड़ीके रससे भी संयुक्त समवाय है, लेकिन नेत्र इन्द्रिय रूपको ही जानेगी, रसको न जानेगी। ऐसी योग्यता है। तो कहते हैं कि अरे भले भाई ! फिर तो योग्यताको ही प्रमाण मान लो, बोचमें क्यों सन्निकर्षका रोड़ा अटकाते हो। सीधे मान लो कि योग्यता प्रमाण है। अब जिस जिसमें जैसी जाननेकी योग्यता है वह प्रमाण है, सन्निकर्षकी बात कहां रही ? अब योग्यताके सम्बन्धमें योग्यतास्वरूपके विकल्प बनाकर पूछा जायगा।

योग्यताके स्वरूपके प्रश्न—इंद्रिय और पदार्थके सन्निकर्षमें जब प्रमाणता का अविनाभाव नहीं रहा अर्थात् सन्निकर्षके होनेपर भी कहीं प्रमाण नहीं बनता और सन्निकर्षके न होनेपर भी प्रमाण बन जाय, ऐसी स्थिति बताई तब सन्निकर्षके मंतव्यमें यह कहा जा रहा है कि सन्निकर्षमें जैसी योग्यता होती है तैसा वह पदार्थका ज्ञान करता है। नेत्रइंद्रियका पदार्थमें संयोग है और उस पदार्थके रूपमें संयुक्त समवाय है और इसी तरह उस पदार्थके रससे भी नेत्रइंद्रियका संयुक्त समवाय है। तो नेत्रइंद्रियका रूपसे और रससे संयुक्त समवाय होनेपर भी नेत्र इंद्रिय व पदार्थका सान्निकर्ष रूपको जानता है रसको नहीं जानता। इसमें योग्यता कारण है। ऐसा कहनेपर सन्निकर्षके मंतव्यसे योग्यताका स्वरूप पूछा जा रहा है कि योग्यताका अर्थ क्या है ? योग्यता नाम शक्तिका है या जानने वालेके आवरणके विनाशका नाम योग्यता है। यदि शक्तिका नाम योग्यता है तो वह शक्ति इंद्रियगम्य है या अतीन्द्रिय है ?

सन्निकर्षके मन्तव्यमें शक्तिरूप योग्यताकी असिद्धि—इंद्रियका पदार्थमें पदार्थके गुणमें व गुणके भावमें जो सम्बन्ध रहता है उसमें जो योग्यता मानी है, शक्ति मानी है वह शक्ति इंद्रियजन्य तो है नहीं। जैसे चक्षु इंद्रियसे घट पट आदिक पदार्थ एकदम इंद्रिय द्वारा गम्य हैं इस तरह यह नेत्रइंद्रिय व पदार्थका सान्निकर्ष नेत्र रूपको ही जानेगा, रसको नहीं, ऐसी शक्ति इंद्रिय द्वारा कहां दीख रही है और अतीन्द्रिय भी शक्ति नहीं है क्योंकि अतीन्द्रिय शक्ति सन्निकर्ष सिद्धान्तमें ही नहीं मानी। सान्निकर्ष के मंतव्य वाले इंद्रिय गोचर कुछ भी नहीं मानते। यहां तक कि कोई प्रभु सर्वज्ञ हो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो वह कहीं आत्माके ही द्वारा सर्वज्ञ नहीं है किन्तु वह भी अतिशय विशेष उत्पन्न करके इन्द्रिय और मनसे सबको जानता है। अतीन्द्रिय तो कुछ मानते ही नहीं है। तो शक्तिका नाम तो योग्यता रही नहीं।

सहकारी कारणोंके सान्निध्यका प्रयोग—यदि सहकारी कारणोंका सान्निध्य मिल जाये इसका ही नाम आप शक्ति रखते हैं तो सहकारी कारणोंसे प्रमाण बनता है ऐसा मंतव्यका निराकरण तो कारकसाकल्यके निराकरणमें बताया ही गया है। सहकारी कारण तो प्रमाणमें केवल निमित्तरूप हो सकता है। मुख्य कारण तो आत्मा ही है लेकिन न आत्माको प्रमाण माना सन्निकर्ष वालोंने और न सहकारिताको प्रमाण माना, किन्तु पदार्थ और न्द्रियके सम्बन्धको प्रमाण माना। यह मंतव्य लौकायतिककी तरह है अर्थात् जैसे लौकिक मनुष्य जिस स्थितिको प्रमाण मानते हैं मोटी दृष्टिसे उस स्थिति तक ही इस आशयकी दृष्टि है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होनेपर भी जो ज्ञान नहीं होता उसमें योग्यताका बहाना लिया गया है। वह योग्यता शक्तिरूप तो है नहीं तथा सहकारी कारणोंके सान्निध्यका कारकसाकल्यमें निराकरण किया।

सन्निकर्षमें सहकारी कारणोंके विकल्प—यदि कहोगे कि सहकारी कारणोंका मिल जाना यह एक विशेष योग्यता है तो सहकारी कारण क्या है? इन्द्रिय पदार्थका सम्बन्ध करके किसीको जाना और किसी को नहीं जाना। इसमें व्यवस्था बनाई गई है सहकारी कारणोंके मिलापकी। जहां सही सहकारी कारण मिल जाता है वहां तो इन्द्रियां जान लेती हैं और जहाँ सहकारी कारण नहीं मिलता वहां इन्द्रियां नहीं जानती। तो सहकारी कारण वह है क्या? द्रव्य है या गुण है या क्रिया है? द्रव्य नाम पदार्थका है, कई पदार्थ मिल जायें और वे तुम्हारे प्रमाणमें सहयोग दें क्या ऐसा है? या कोई गुण मिल जाय और तुम्हारे प्रमाणमें सहयोग दे क्या ऐसा है? या कोई क्रिया चेष्टा प्राप्त हो जाय तब तुम्हारे प्रमाणमें सहयोग हो क्या ऐसा है? तीन प्रश्न यहां हुए। क्या प्रमाणमें सहकारी द्रव्य है या गुण है या क्रिया है? द्रव्य है तो कैसा द्रव्य है व्यापी या अव्यापी? अर्थात् जो सारे जगतमें फैला हो या जो कुछ जगह रहने वाला हो वह द्रव्य है?

सन्निकर्षमें द्रव्यकी सहकारीकारणताकी असिद्धि— यहां प्रश्न यह किया जा रहा है कि सन्निकर्ष प्रमाण माननेवालोंने यह युक्ति दी थी कि इन्द्रियसे रूप, रस आदिकसे संयुक्त समवाय होने पर भी नेत्रइन्द्रियका सन्निकर्ष रूपको ही जानता, रस आदिकको नहीं, रसना इन्द्रियका सन्निकर्ष रसको ही जानता रूप आदिकको नहीं। इन विभागोंको बनानेमें कारण है योग्यता। वह योग्यता सहकारी साधन है। तो सहकारी साधन क्या व्यापक द्रव्य है? व्यापक द्रव्य तो तुम्हारे सन्निकर्षमें सदा ही मौजूद रहते हैं। जिस समय नेत्रइन्द्रियका पदार्थसे सम्बन्ध हो रहा है उस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समय क्या आकाश, दिशा, काल, आदमी आदिक नहीं है ? यदि नहीं है तो ये व्यापी ही नहीं रहे। जब व्यापी ये सब सहकारी कारण हैं तो सदैव सभी विषयोंका किसी भी इन्द्रियसे ज्ञान होते रहना चाहिए। यदि यह कहें कि अव्यापी द्रव्य हमारे सन्निकर्ष में एक योग्यता उत्पन्न करते हैं तो वे अव्यापी द्रव्य कौनसे हैं ? मन है, नेत्र है या प्रकाश है ? जब आंखोंका सन्निकर्ष आकाशके साथ हो रहा उस समय भी ये तीन हैं। जब नेत्रसे घट जान रहे हैं उसी समय नेत्रइन्द्रियका सम्बन्ध आकाशसे भी है और उस समय भी मन पास है, नेत्र भी है, प्रकाश भी है, फिर आकाश आदिकका ज्ञान क्यों नहीं होता ? इस कारण द्रव्य तो सहकारीकारण बन नहीं सकता।

सन्निकर्षमें सहकारीकारणरूपसे अवमत गुणके विकल्प— यहां बात यह कही जा रही है कि जब यह सिद्धात रखा आचार्यदेव ने कि ज्ञान ही प्रमाण होता है और वह ज्ञान जो स्व एवं अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक हो। इसके विरोधमें सन्निकर्ष सिद्धांतने यह बात रखी कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु इंद्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है। इसे कहते हैं सन्निकर्ष। तो सन्निकर्षमें यह आपत्तिकी थी कि कहीं कहीं तो सन्निकर्ष होनेपर भी प्रमाण नहीं बनता और कहीं सन्निकर्ष न होनेपर भी प्रमाण बन जाता है। तो उसके कारणमें योग्यता बताई जा रही है। वह योग्यता सहकारी कारणोंके सान्निध्यरूप है तो क्या वह सहकारी कारण गुण है ? जहां गुण मिला वहां प्रमाण बन जाता है, गुण न मिले वहां सन्निकर्ष प्रमाण न करें। तो वह गुण है क्या ? क्या ज्ञातामें रहने वाला गुण सहकारी है या प्रमेय पदार्थमें रहनेवाला गुण सहकारी है या जानने वाले और जाने गये पदार्थ दोनोंमें रहने वाले गुण सहकारी हैं।

सन्निकर्षमें गुणकी सहकारीकारणताकी असिद्धि—यदि कहें कि ज्ञेय पदार्थमें रहनेवाला गुण सहकारीसान्निध्य है तो आकाशमें तो सदैव गुण है वह भी तो द्रव्य है फिर क्यों नहीं उसका ज्ञान हो जाता ? यदि कहें कि यह तो जानने वालेके गुणोंकी महिमा है, जानने वाले पुरषका गुण मिले सही तो यह सन्निकर्ष जाने। तो प्रमाताका वह गुण क्या है ? क्या पुण्य पाप या इच्छा आदिक ? जैसा पुण्य पाप हो तैसा इंद्रियके सन्निकर्षमें ज्ञान बने अथवा जिस प्रकारकी इच्छा हो तिस प्रकारसे सन्निकर्षसे ज्ञान बने तो ये तो दोनों ही बातें पुण्य पाप भी और इच्छादिक भी आकाश और इंद्रियके सम्बन्धके समय मौजूद हैं और अब भी मौजूद हैं फिर क्यों नहीं आकाश का इन इन्द्रियोंसे ज्ञान हो जाता ? या दिशाका या समयका या आत्मादिकका ? जैसा सम्बन्ध नेत्रइन्द्रियका इस पदार्थके साथ है ऐसे ही जब आकाशके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध है तो उस समय ये पुण्यपाप या इच्छा खतम नहीं हो जाती। इसी तरह ज्ञाता और ज्ञेय दोनोंके गुणोंका कारण बतावो तो जो दोनोंमें दोष दिया है वह दोष आ जाता है। सारांश यह है कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाणका नियमित कारण बने यह बात घटित नहीं होती।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सन्निकर्षमें क्रियारूप सहकारीकारणकी असिद्धि—कदाचित् यह कहें कि क्रियाकी ऐसी विशेषता है कि उस योग्यताके कारण कोई सन्निकर्ष किसीको जानता है कोई किसीको जानता है तो वह क्रिया क्या अन्य पदार्थकी क्रिया है जो तुम्हारे सन्निकर्षमें सहकारी या इन्द्रियकी क्रिया सहकारी है ? जैसे जब पलकोंको बन्द कर लेते हैं तब ज्ञान नहीं होता, पलकोंको खोलते हैं या नेत्रके गोलकको घुमाते हैं तब ज्ञान हुआ करता है। यों इन्द्रियकी क्रिया ज्ञानमें सहयोगी है या अन्य पदार्थकी क्रिया ? अन्य पदार्थकी क्रिया यदि ज्ञानमें सहयोगी हो जाय तो अन्य पदार्थ तो सदैव हैं, सदैव उनकी क्रिया है तो सदैव सारा ज्ञान होना चाहिए। यदि कहें कि इन्द्रियकी क्रिया सहकारी कारण है तो आकाशके सन्निकर्षके समय भी नेत्रमें क्रिया चल रही है, क्यों नहीं ज्ञान हो जाता ? इस कारण शक्ति नामकी योग्यता तो तुम्हारे सन्निकर्षमें ठीक नहीं है।

प्रमाणका साधकतम प्रतिपत्ताके प्रतिबन्धका अपाय—यदि ज्ञाताके आवरणका विघात कारण कहें याने जाननेवाले जीवके ज्ञानके आवरणका जितना विनाश है उतना उसका ज्ञान होता है, तो अब कही तुमने ठीक बात ! इसमें कोई विरोध नहीं है। जिस जीवके ज्ञानावरण कर्मका जितना क्षयोपशम है उस क्षयोपशम-रूप योग्यताके अनुसार यह जीव ज्ञान किया करता है। और, वह प्रमाण होता है, फिर यह सन्निकर्षकी बात जीवमें क्यों लगा रहे हो ? जिस जीवके जहांपर जिस प्रकारसे ज्ञानावरणका विनाश होगा उस जीवके उस जगह उस प्रकारके अर्थका परि-ज्ञान हो जाता है। और, ज्ञानावरणके विनाशसे ज्ञान बनता है, इस बातका आगे खूब समर्थन भी किया जायगा। तो यही मान लो—जाननेवालेके ज्ञानावरणका अपाय होना पदार्थके ज्ञानमें कारण है, सन्निकर्ष कारण नहीं है। सन्निकर्षमें रहनेवाली योग्यतासे ज्ञानके प्रमाणका विधान बनाते हो सो योग्यतासे ही प्रमाण बना लो, सन्निकर्षसे क्या प्रयोजन ? वही इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होकर ज्ञान होता, वही इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध न हुआ तब भी ज्ञान होता लेकिन ज्ञानावरणके विघटन बिना ज्ञान किसीके नहीं होता। इस कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम तो ज्ञान के होनेमें मुख्य कारण है और इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश ये सब उसके सहकारी कारण हैं। उन सहकारी कारणोंमें कोई निकट सहकारी है कोई बाह्य सहकारी है, किन्तु ज्ञानके होनेमें ज्ञानावरणका विनाश सबको आवश्यक है।

सर्व ज्ञानियोंके ज्ञानावरणप्रकृतिके अपायका नियम—सर्वज्ञदेवको सर्व लोकालोकका ज्ञान है क्योंकि उनके सर्व ज्ञानावरणका क्षय है। यहां हम आपको कुछ कुछ पदार्थोंका ज्ञान है क्योंकि ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, तो इस प्रतिबंधापाय-रूप योग्यताके द्वारा ही ज्ञानमें निर्णय बन सकता है। इन्द्रिय और पदार्थका संबंध होनेपर भी किसीका ज्ञान होता है और किसीका ज्ञान नहीं होता। अतः सन्निकर्ष

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मुख्य नहीं रहा, किन्तु ज्ञानावरणका विनाश मुख्य कारण रहा और उसमें उपाद न रहा आत्मा। प्रमाणरूप परिणमन आत्माका ही तो हुआ है ना, न तो इन्द्रियका हुआ न ज्ञेय पदार्थोंका हुआ। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है और हम सब आत्मामें यह ज्ञान ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे बाह्य इन्द्रिय आदिककी सहकारिता पाकर उत्पन्न होता है और किसी शुद्ध आत्माके ज्ञानावरणका चूंकि सर्वक्षय हो गया है अतएव इन्द्रिय आदिक कारणोंके बिना केवल आत्मपरिणमनसे ही समस्त लोकालोकका ज्ञान होता है। यह तो एक संसारी अवस्था की परिस्थिति है कि इन्द्रियका और पदार्थका सम्बन्ध पाकर हम आपका ज्ञान होता है। पीठ पीछे क्या है ? इसका हमें कुछ ज्ञान नहीं है। यह एक हमारी परिस्थिति है और आँखके आगे क्या है ? इसका हमें ज्ञान हो रहा है। तो इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे ज्ञान बन रहा है या इन्द्रिय और पदार्थका सम्बंध ही प्रमाण है। प्रमाण तो ज्ञान है इस ज्ञानके विकासकी ऐसी परिस्थिति संसारी जीवकी है। और मुक्त जीवकी ऐसी पराधीन परिस्थिति नहीं है। वह अपने आत्मपरिणमनसे समस्त लोकालोकको स्पष्ट एक साथ जानता है।

स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यताकी ज्ञानरूपतासे मुख मोड़नेका प्रदर्शन— योग्यता साधकतम है ज्ञान में, इतनी बात सिद्ध हो जानेपर और सन्निकर्षके मंतव्यकी मनमानी बात सिद्ध न होनेपर फिर भी सन्निकर्षके मंतव्य वाला पुरुष ज्ञानप्रमाण न बन सके इसकी सिद्धि करनेकी कोशिश कर रहा है। भाई ! योग्यता ही अर्थके परिच्छेदन करनेमें साधकतम है तो रहा आये, किन्तु योग्यता प्रमाण बना ज्ञान प्रमाण नहीं बना। क्योंकि, पदार्थके परिज्ञानमें साधकतम योग्यता है और यही आपने सिद्ध किया है, ऐसा सन्निकर्षवादी कह रहे हैं कि इसपर भी ज्ञान प्रमाण तो सिद्ध नहीं हुआ ? योग्यता प्रमाण सिद्ध हुई है। जैसे जब कभी किसी बातपर विवाद हो जाय दो पुरुषोंमें, उनमें एक हठी है और हठीकी बात गिर जाती है तो गिर जानेपर भी किसी न किसी तरहसे दूसरेकी बात पूर्णतया सिद्ध नहीं हो ऐसा वाक्य बोला ही करते हैं। कोई बात पूर्ण सिद्ध हो जाय तो इतना तो कोई कह ही सकता है कि हाँ साहब ! आपकी बात कुछ कुछ ठीक जचती है, हम इसपर विचार करेंगे। तो किसी की बात ठीक होनेपर भी अनेक शब्द तो ऐसे रिजर्व हैं ही कि मानकर भी हमने नहीं माना यह बात चारके आगे रखी जा सकती है। जैसे कभी कभी शास्त्रसभाके श्रोतावों में भी यह बात हुआ करती है, कोई हठी शङ्काकार हो और उसकी शङ्काका पूर्ण समाधान भी मिल जाय तो इतना तो तब भी वह कहता है कि हाँ हो तो सकता है ऐसा, पर हम इसपर विचार करेंगे ! लो बात सही होनेपर भी गैर सही है। इस प्रकारकी असिद्धिकी कोशिश इन शब्दोंमें हो गयी।

स्वार्थपरिच्छित्तिरूप योग्यतामें ज्ञानरूपताका समाधान— सन्निकर्षके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होनेपर भी कभी प्रमाण होता है और सन्निकर्ष न होनेपर भी कभी प्रमाण बन जाता है। इस स्थितिसे सन्निकर्षकी प्रमाणता नहीं रहती, लेकिन सन्निकर्षको ही प्रमाण कहनेके लिए एक योग्यताको स्वीकार किया है, सो योग्यताके स्वीकार करनेमें योग्यता मुख्य बन गयी, सो योग्यता ही प्रमाण हुई, सन्निकर्ष तो प्रमाण नहीं हुआ, ऐसी बात सुनकर सन्निकर्षवादी कहता है कि ठीक है, योग्यता प्रमाण हुई पर तुम्हारा ज्ञान तो प्रमाण नहीं हुआ ?

ऐसी आशङ्कापर समाधान दे रहे हैं कि भाई ! योग्यता क्या हुई ? यही तो ना कि पदार्थके परिज्ञान करनेकी शक्तिरूप जो अन्त: पुरुषार्थ है, भावेन्द्रिय है वही तो योग्यता रही। वह भाव इन्द्रिय स्वयं ज्ञानस्वरूप है। तो ज्ञान ही तो प्रमाण रहा। केवल एक नामभेदसे भावका भेद डालना उचित नहीं है। जब सन्निकर्षवालेसे यह कहा गया कि योग्यता प्रमाण रहा तुम्हारा सन्निकर्ष नहीं रहा तो उसके एवजमें वह उत्तर देने लगा कि हाँ, योग्यता प्रमाण है, तुम्हारा ज्ञान प्रमाण नहीं रहा। अरे ! वह योग्यता ज्ञानस्वरूप ही तो है। योग्यता प्रमाण है इसका अर्थ यह है कि ज्ञान प्रमाण है।

स्वार्थपरिच्छित्तियोग्यताकी साधकतमता—देखो जिसके न होनेपर और अन्य पदार्थोंके होनेपर भी जो बात उत्पन्न नहीं होती है वह उसके कारणसे उत्पन्न हुई, मानना चाहिए। जैसे कुल्हाड़ीके न होनेपर और और पदार्थ कितने ही हों, मिट्टी है, पत्थर हैं, लोग खड़े हैं, कुछ भी अनेक पदार्थ हों पर एक कुल्हाड़ीके न होनेपर काठ नहीं छेदा जा सकता; तो काठके टुकड़े करनेमें साधकतम तो कुल्हाड़ी रही। इसी प्रकार भावेन्द्रियरूप योग्यताके न होनेपर चाहे सन्निकर्ष भी हो, चाहे कारक साकल्य भी हो लेकिन पदार्थका ज्ञान नहीं होता इससे यह सिद्ध है कि पदार्थका ज्ञान, पदार्थका प्रमाण भावेन्द्रियके द्वारा चलता है। तो भावेन्द्रिय कहो, अथवा योग्यता कहो या ज्ञान कहो सब उसके निकटकी बातें हैं। अपना और परपदार्थोंका आभास होने वाले ज्ञानरूप प्रमाणकी सामग्री तो यह योग्यता है, इस कारण प्रमाणकी उत्पत्तिमें योग्यता साधकतम है। वह योग्यता ज्ञानस्वरूप है क्योंकि यह अन्त: स्वरूप योग्यता किसी अन्य पदार्थके परिणमनको लेकर प्रमाणरूप नहीं बनती अतएव वह स्वतंत्र होकर ज्ञानरूप बनती है। तो ज्ञान ही प्रमाण है, सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है।

ज्ञानमें साधकतमका और बाह्य सहकारी कारणका निर्णय—इतनेपर भी सन्निकर्षके मतव्य वाले कह रहे हैं कि चलो योग्यतासे ज्ञान बना, पर उसमें कुछ सन्निकर्ष भी तो कारण पड़ा इसलिये सन्निकर्ष भी तो प्रमाण है। चलो इतनी भी बात सही, पर हमारा सन्निकर्ष भी तो प्रमाण है ? कहते हैं कि इस तरह कारणका बाह्य कारण बननेसे यदि साधकतम बन जाय तो काठके छेदन करनेकी क्रियामें लोहार भी साधकतम करण बन बैठेगा, पर लोहार छेदनक्रियामें साधकतम तो नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है । कहते हैं कि वाह उपचारसे तो वह भी साधकतम है । न होता लोहार, न बनाता लोहार वह कुल्हाड़ी तो काठको कैसे छेद लेते ? तो उपचारसे लोहार भी उस छेदन क्रियामें कारण है । तो कहते हैं कि इस प्रकार उपचारसे तुम्हारा सन्निकर्ष भी कारण मान लेंगे, पर मुख्यरूपसे तो सन्निकर्ष प्रमाण नहीं रहा । ज्ञान ही प्रमिति क्रियामें मुख्य साधकतम है और प्रमाण है । इस प्रकार स्व अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है यह सिद्ध किया गया है ।

अचेतन सन्निकर्षके प्रमाणत्वकी सिद्धिका पूर्व पक्ष —प्रमाणके प्रकरणमें प्रमाणकी बात जल्दी समझनेके लिये प्रमाणका नाम ज्ञान, और प्रमाताका नाम ज्ञाता प्रमेयका नाम ज्ञेय और प्रमितिका नाम जानकारी करना, ये चार भाव समझ लीजिए चार चीजें हुई, ज्ञाता अर्थात् जानने वाला, ज्ञेय अर्थात् जो पदार्थ जाननेमें आये, ज्ञप्ति जो जाननेकी क्रिया चल रही है याने जानकारी होना और ज्ञान । इनका प्रकृतमें नाम है प्रमाता; प्रमेय, प्रमिति और प्रमाण । सन्निकर्षवादी इंद्रिय और पदार्थके भिड़ावको प्रमाण कहते हैं । जैसे कि लोकमें कुछ साधारणतया विदित किया जाता है कि इंद्रिय और पदार्थ जब ये दोनों निकट या आमने सामने आये तब ज्ञान हुआ और तब पक्की बात मानी गयी, इसे कहते हैं सन्निकर्ष । सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है, सिद्धान्तकी बात तो यह है, किन्तु सन्निकर्ष प्रमाण मानने वाले यह कह रहे हैं कि ज्ञानको प्रमाण मानने वालोंने इस तरह प्रमाण माना कि ज्ञान और ज्ञातामें फर्क न मानकर ज्ञाता ही तो ज्ञानरूप परिणमा है, सो उनके सिद्धांतमें ज्ञाता प्रमाण बन बैठा; प्रमाता प्रमाण बन गया, लेकिन प्रमाता और प्रमेय जुदी चीज हैं और प्रमाण भी जुदी वस्तु है । आत्मा प्रमाण नहीं बन सकता, क्योंकि आत्मा तो प्रमाता है अथवा आत्मा ही प्रमेय है । तो प्रमाण तो प्रमाता और प्रमेयसे भिन्न चीज होना चाहिये । क्योंकि प्रमाण उसे कहते हैं जिसके द्वारा दृढ़ ज्ञान किया जाय । प्रमाता दृढ़ ज्ञान करने वालेको कहते हैं । प्रमेय जो दृढ़तासे जाना गया वह प्रमेय है । तो प्रमाण तो न्यारी वस्तु हुई ना ? जानने वालेका ही नाम तो ज्ञान नहीं होता । जानने वाला आत्मा है और ज्ञानके द्वारा आत्माने जाना, लोग भी ऐसा कहते हैं । तो ज्ञान तो आत्मासे जुदी वस्तु है प्रमाण आत्मासे भिन्न चीज है जिसके द्वारा आत्मा प्रमाण किया करता है, जो प्रमाता है, जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं बन सकता प्रमाण उससे कुछ न्यारी चीज है । ऐसा सन्निर्षवादी कह रहे हैं ।

सन्निकर्षकी प्रमाणताके पूर्वपक्षका समाधान - अब प्रमाताके प्रमाणत्व का विरोध बताने वाली आशंकाका समाधान सुनिये ! न्यायप्राप्त किसी भी बातको बिना ही युक्तिके केवल मानने मात्रसे निषेध नहीं किया जा सकता । ज्ञान आत्मासे जुदा नहीं है । आत्माका जो काम हो रहा है उस ही कामको जब करण साधनसे देखते हैं तो यों कहते कि ज्ञानके द्वारा जाना, जब कर्तृ साधनकी मुख्यतासे देखते हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तब यों कहेंगे कि आत्माने जाना और वस्तुत: जाननेमें आया क्या ? आत्माका ही परिणमन जाननेमें आया। बाह्य पदार्थ तो ज्ञानके विषय हैं इसलिए इनको ज्ञेय कह देते हैं। वस्तुत: तो आत्मा ही ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है, आत्मा ही ज्ञान है और जाननेका जो काम है वह भी आत्मासे अलग नहीं है, यह न्यायप्राप्त बात है। न्याय-प्राप्त बातका केवल मानने मात्रसे निषेध नहीं होता, उसमें समीचीन युक्ति हो तो उसका निषेध चल सकता है। सन्निकर्षवालोंने यों कहकर टाल दिया कि जो प्रमाता है प्रमेय है उस हीमें प्रमाणपना नहीं होता। प्रमाणपना कोई भिन्न चीज है। तो केवल माननेमात्रसे न्यायसिद्ध बातको मना नहीं किया जा सकता। अनुभवसे विचार लो। आधार आधेय भावसे विचार लो। उपादान उपादेय भावसे विचार लो। प्रमाण प्रमातासे अर्थान्तर नहीं है, भिन्न चीज नहीं है।

शङ्काकारके पूर्वपक्षका सोदाहरण विवरण— शङ्काकारका प्रयोजन यह है कि जैसे यह कहा गया कि बढ़ईने कुल्हाड़ीसे काठको छेद दिया तो यहाँ कर्ता तो जुदा है, करण जुदा है, काम न्यारा है। इसी तरह हर स्थितियोंमें कर्ता जुदा होता, कर्म जुदा होता करण जुदा होता। आत्माने ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थोंको जान लिया तो इसमें आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है, ज्ञेय जुदा है, तीनों एक नहीं बन सकते। जैसे बढ़ई, कुल्हाड़ी और काठके टुकड़े क्या ये तीनों एक ही बात है ? भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं। क्यों भिन्न हैं कि कारक जुदे–जुदे हैं. बढ़ईने–यह कर्ता कारक है, कुल्हाड़ी के द्वारा–यह करण कारक है, काठ यह कर्म कारक है। कर्ता और कर्मसे जुदी चीज होती है करण। जैसे इस दृष्टान्तमें बढ़ई और काठसे जुदी चीज है कुल्हाड़ी, ऐसे ही आत्माने ज्ञानके द्वारा पदार्थको जाना तो कर्ता तो आत्मा हुआ और कर्म ये पदार्थ हुए जो जाने गए और करण ज्ञान हुआ। तो करण प्रमाण और प्रमेयसे जुदी चीज रही तब आत्मा ही प्रमाण नहीं बन सकता। आत्मामें प्रमाणता नहीं आ सकती। आत्मा तो चेतन है और जिसके द्वारा जाना वह अचेतन होना चाहिए। जैसे बढ़ई तो जीव है और जिसके द्वारा काठ छेदा गया वह अचेतन है कुल्हाड़ी। इस प्रकार भिन्न कारकीय उदाहरण देकर इस आत्माके मर्मकी अनभिज्ञतासे एक युक्तिरहित बात कहकर सन्निकर्षवादी आत्मामें प्रमाणपनेका निषेध कर रहा है।

केवल अभ्युपगम मात्रसे विरोधकी असिद्धि— आचार्य देव कहते हैं कि केवल कहने मात्रसे न्यायसिद्ध बातका निषेध नहीं किया जा सकता। यदि कहने मात्र से जिस चाहे बातका उल्लंघन कर दिया जाय तो जैसे तुम यह कह रहे हो कि प्रमाण और प्रमेयसे जुदी चीज होती है तो हम यह कह दें कि प्रमाण अचेतनसे जुदी चीज होती है। तो यों प्रमाण चेतन बन जायगा। प्रमाणमें चेतना नहीं है। चेतना तो आत्मामें है, और जब ज्ञान साधनके द्वारा आत्मा चेतता है तो आत्मा ज्ञानी कहलाता है। आत्मामें जाननेका धर्म नहीं है, केवल चेतन है, स्वरूप है आत्माका चेतन, पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्माकी जानकारी करनेका अपने स्वभावमें माद्दा नहीं है। जब ज्ञानका सम्बन्ध होता है तब आत्मा जानता है। ऐसा मंतव्य है सन्निकर्षवादियोंका और तभी इनका प्रमाण अचेतन है और वह है सन्निकर्ष। सो केवल कहने मात्रसे न्यायप्राप्त बातका विरोध नहीं होता, युक्ति और अनुभवसे भी देख लो प्रमाणका आधार प्रमाता ही होता है।

प्रमाणके अप्रमेय होनेपर प्रमाणके असत्त्वका प्रसंग—इस समय सन्निकर्ष सिद्धान्तने क्या बात रक्खी कि प्रमाण, प्रमाता और प्रमेयसे जुदी चीज होती है तब इसमें आपत्ति देखो। प्रमाण न्यारा हुआ सन्निकर्ष वालोंका, प्रमातासे भी और प्रमेयसे भी जुदा। तो इसका अर्थ है कि प्रमाण प्रमेय नहीं रह सका। जैसे प्रमाण प्रमेय नहीं रहा ऐसे ही प्रमेय नहीं रहा ऐसे ही प्रमेय प्रमाण नहीं रहा। सीधे शब्दों में यों समझो कि इनका कहना यह है कि ज्ञाता और ज्ञेयसे ज्ञान जुदी चीज है। इस का अर्थ यह निकला कि ज्ञान ज्ञाता नहीं हैं, ज्ञान ज्ञेय नहीं है तो ज्ञान ज्ञेय भी नहीं रहा अर्थात् ज्ञान समझमें आ जाय, जाननेमें आ जाय, ऐसा भी नहीं रहा तो जब प्रमाण प्रमेय भी नहीं रहा तो प्रमाणकी सत्ता नहीं रहा। जो बात हमारी जानकारी में न आये उसकी सत्ता क्या। प्रमाण हमारी जानकारीमें नहीं आता तो उसकी सत्ता क्या ? क्योंकि जितने भी सद्भाव हैं उनकी व्यवस्था तभी है जब वे ज्ञानमें आयें। ज्ञानमें आये बिना सद्भावकी कुछ व्यवस्था नहीं है इसी कारण जितने भी सत् हैं सबमें प्रमेयत्व धर्म पाया जाता है। तुम्हारा ज्ञान अलग तो पदार्थ है और अचेतन है और साथ ही यह भी कैद लगा रहे हो कि वह ज्ञेय भी नहीं होता। तो जब ज्ञेय भी नहीं रहा तो उसकी सत्ता क्या ? तुम्हारा प्रमाण कुछ नहीं है। केवल कपोल कल्पनाकी चीज है। जैसे बालकको डरानेके लिये एक हौवा कहा जाता है, पर उस हौवाको किसीने देखा है क्या ? उसके कितने हाथ पैर होते हैं। कोई बता सकता है ? अरे वह तो कोई चीज ही नहीं है। ऐसे ही तुम्हारा प्रमाण तुम्हारा सन्निकर्ष हौवाकी तरह है। एक मन बहलानेके लिये या दूसरोंसे झगड़ा ठाननेके लिये या अपनी जिन्दगी यों ही बितानेके लिये दूसरोंपर अपनी चतुराईका एक रौब जमाने के लिये ये सब कल्पनायें हैं, सत्त्व कुछ नहीं है।

कल्पित तत्त्वचतुष्टयीमें अव्यवस्था व अव्याप्ति—जो यह कहा है सन्निकर्ष सिद्धान्तमें कि तत्त्व तो बस चारमें ही परिसमाप्त होता है—प्रमाता, प्रमाण प्रमेय और प्रमिति, ये बातें कुछ भिन्न-भिन्न नहीं हैं। भिन्न-भिन्न तो सत् हैं। उन सब सतोंमें प्रमाता एक आत्मा ही हो सकता है जहां-जहां प्रमाता शब्द कहा वहां अपने मनमें ज्ञाता अर्थ लगाते जायें, जाननेवाला अर्थ लगाते जायें इससे वक्तव्य शीघ्र समझमें आता जायगा। तो एक पदार्थ तो प्रमाताकी जातिका है बाकी पदार्थ अप्रमाता अर्थात् अजीव जातिके हैं। अब प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति ये प्रमाताके ही धर्म हैं और उपचारसे अजीव पदार्थ भी प्रमेय हो सकता है, किन्तु प्रमिति, प्रमाण

http://sahjanandvarnishastra.org/

और प्रमाता ये तीन तो जीवके ही तत्त्व होते हैं । प्रमितिका अर्थ है जानकारीका काम होना, सो जाननारूप क्रिया याने काम तो ज्ञाताका ही हो रहा है । प्रमेय प्रमाता भी है और अप्रमाता भी है । जीव भी प्रमेय है और अजीव भी । तत्त्वकी व्यवस्था तो यों है इन चार रूपोंमें तत्त्व नहीं है, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति तो हुआ जीवतत्त्व, किन्तु प्रमेय जीव भी व अजीव भी है । सन्निकर्षसिद्धान्तके अनुसार प्रमाण प्रमाण ही रहता, वह कभी प्रमेय नहीं बनता, किन्तु प्रमेय बने बिना प्रमाणके भी सद्भावकी व्यवस्था नहीं बनाई जा सकती । कोई चीज है, इसकी व्यवस्था आप कब बना सकेंगे ? जब ज्ञानमें बात आये तब ना । और ज्ञानमें आये सो ही ज्ञेय है । तो प्रमाणको प्रमेयका विरोधी भाव माननेपर प्रमाणका यों अभाव ही समझिये । प्रमेय तो अवश्य होना चाहिए किन्तु पूर्वपक्षकारने यह माना है कि प्रमाण प्रमेय नहीं बनता।

सन्निकर्षके प्रसङ्गमें तत्त्वचतुष्टयकी कल्पनासे चारोंके अभावकी पुष्टि — अच्छा, बतावो, तुम्हारा प्रमाण प्रमेय नहीं है तो क्या सर्वज्ञके द्वारा भी प्रमाण प्रमेय नहीं है ? तुम्हारे प्रमाणको क्या सर्वज्ञ देव भी नहीं जानते ? यदि सर्वज्ञके ज्ञान से भी प्रमाण अप्रमेय बन गया तो फिर सर्वज्ञ भी तुम्हारा कोई नहीं रहा । इस प्रकरणमें यह भी जानें कि इनके सर्वज्ञ भी ज्ञानस्वभावके कारण आत्मा आत्माके साधनसे ही सबको जान लेते हों ऐसे नहीं है किन्तु ये सर्वज्ञ इंद्रिय और मनमें एक ऐसा अतिशय पैदा कर लेते हैं कि इंद्रिय और मनसे ही सबको जानते रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ हैं इनके । ऐसे सर्वज्ञ देव भी आपके प्रमाणको प्रमेय करते नहीं हैं तब फिर सर्वज्ञता ही क्या रही ? तो प्रमाण कुछ चीज नहीं ना; क्योंकि वह प्रमेय ही नहीं है । इसी तरह प्रमाता भी कुछ नहीं रहा क्योंकि प्रमाता प्रमेयत्व धर्मका आधार नहीं है । तुम्हारे सिद्धान्तमें तो चारों तत्त्व हैं न्यारे न्यारे । प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति । एकमें दूसरा नहीं है तो प्रमाता भी क्या प्रमेय नहीं है ? यदि प्रमाता भी प्रमेय नहीं है तो प्रमाताका भी असत्त्व हो गया । आत्मा भी कुछ नहीं रहा । तो प्रमाण भी कुछ नहीं रहा और प्रमाता भी कुछ नहीं रहा । अब रह गये दो—प्रमिति और प्रमेय । जानकारी का काम और जाननेमें आने वाले पदार्थ । जब प्रमाता ही नहीं रहा, प्रमाण ही नहीं रहा तो प्रमेय क्या और प्रमिति क्या ? जानकारी का काम किसमें हो रहा, उसका आधार क्या ? तो यों तो तुम्हारे चारोंके चारों तत्त्व असत् हो गये ।

दार्शनिकोंकी बुद्धिप्रयोगमें स्वतन्त्रता भैया ! तत्त्वकी सिद्धि असिद्धि की विचित्रता सुनकर आश्चर्य न करें कुछ मंतव्य ऐसे भी आयेंगे इसी ग्रन्थमें कि हम तो चारोंको झूठ मानते हैं, न प्रमाण है, न प्रमेय है और न प्रमिति है, यह तो तुम सब लोगोंने कल्पनासे एक जाल बना रखा है ऐसे भी सिद्धान्त आते हैं । ऐसा कहनेमें कोई ऐसा आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि कोई ऐसा भी मानने वाला होगा क्या ? दार्शनिकोंको अपनी बुद्धिके प्रयोगकी स्वतन्त्रता रहती है और वे युक्ति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लगा लगाकर कुछ से कुछ भी बात सिद्ध करदें, उन्हें अनिष्ट कुछ नहीं दिखता। जैसे आज कलके जो ऊँचे साहित्यकार लोग हैं और इतिहासके विशेषज्ञ हैं, ईमानदार लोग हैं वे इतिहासकी खोज करते करते यदि उनके खोजमें अपने कौलिक धर्मके विरुद्ध बात आ रही है तो उसका प्रकाश करनेमें वे जरा भी हिचकिचाहट नहीं रखते क्योंकि, इतिहासज्ञ और खोज करने वालोंका यह धर्म ही है। जो धर्म कुल-परम्परासे माना है वह धर्म नहीं है इतिहासज्ञोंका। उनके ज्ञानमें जो सच बात खोजमें आई हो उसे निर्भयतासे प्रकट करना यही उनका धर्म है। तो दार्शनिकोंको बुद्धिकी स्वतंत्रतासे प्रयोग करनेका अधिकार है। फिर परस्पर विचार होने पर खण्डित हो या अखण्डित हो यह आगेकी बात है।

एक ही आत्मामें भिन्न रूपसे भी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण व प्रमितिकी असिद्धि—देखिये सन्निकर्षके आशयमें प्रमाण प्रमेयत्व धर्मका आधार नहीं बताया इसी तरह प्रमाता भी प्रमेयत्व धर्मका आधार नहीं रहा तो ये भी घोड़ेकी सींगकी तरह असत् हो गए। कुछ चीज ही नहीं रही। देखिये किसी भी सत्की सिद्धि करनी हो तो उसे प्रमेयत्व धर्मका आधार मानना ही चाहिए। अर्थात् वे प्रमेय है ऐसी स्वीकारता करना ही चाहिए। तो अब प्रमाताका भी अभाव होने लगा। जो मूल चीज है, सब पदार्थोंमें प्रधान पदार्थ है आत्मा, उसका भी अभाव होने लगा। तो इस प्रसंगमें पूर्व पक्षकार कहता है कि नहीं नहीं, प्रमाता तो प्रमेयत्व धर्मका आधारभूत है। अच्छा प्रमातामें प्रमेयत्व धर्म भी है ? तो अब यह बतलावो कि प्रमातासे भिन्न प्रमेयत्व है जिसके कारण प्रमाता प्रमेय बना या प्रमाताका ही धर्म एक प्रमेयत्व है। अगर जुदा मानते हो तो वहाँ पर भी उसके प्रमाताका प्रमेयत्व अन्य मानें, फिर वहाँ भी उसके प्रमाताका भी प्रमेयत्व अन्य बन गया। तो यों तो अनन्त प्रमाता मानने पड़ेंगे, अनन्त ज्ञाता मानने पड़ेंगे तब एक ज्ञाताका सत्त्व सिद्ध कर पावोगे। यदि यह कहो कि जुदा–जुदा प्रमाता नहीं है तो उस ही एक प्रमातामें धर्म भेदसे उस ही एक आत्मामें प्रमातापन भी सिद्ध होता है और प्रमेयत्व भी सिद्ध होता है। तो यों प्रमाणमें भी प्रमेय धर्म मान लें क्या हर्ज है। तो यह बात अब वापिस लो कि प्रमाण प्रमाता और प्रमेयसे जुदी चीज हुआ करती है।

एक ही आत्मामें धर्म भेदसे प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण व प्रमितिकी सिद्धि—देखिये वही एक आत्मा है। उस ही को जब हम कर्तासाधनसे देखते हैं तो वह जानने वाला है, उस ही को जब हम करण साधनसे देखते हैं तो वही ज्ञान बना, उस ही को जब हम कर्म साधनसे देखते हैं तो वही परमार्थसे ज्ञेय बना। और, जब क्रियाकी दृष्टिसे देखते हैं तो जानकारी होनेसे कामका आधार भी वही आत्मा रहा। ये न्यारे–न्यारे तत्त्व नहीं है। जो न्यारे तत्व है उनकी तो सुध भी नहीं ले रहे हो। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य जो न्यारे–न्यारे पदार्थ हैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उनका तो तुम जिकर भी नहीं कर रहे और मान रहे कि तत्त्व तो चार ही हैं। यों प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति। तो इस व्यवस्थामें तुम्हारा सन्निकर्ष प्रमाण नहीं हुआ।

इन्द्रिय और पदार्थमें सन्निकर्षका अनियम—और भी सोचिये! सन्निकर्षका अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध बनना। तो जरा सम्बन्धकी बात विचारो कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध भी होता है या नहीं। आंखका पदार्थके साथ सम्बन्ध देखा है क्या? पदार्थ अपनी जगह है। और, यदि आंख पदार्थका सम्बन्ध करके जानती होती तो आंखमें लगे हुए काजलको आंख क्यों नहीं जान पाती? इस काजलका तो आंखोंसे और निकट सम्बन्ध हो गया तो आंख पदार्थसे भिड़ करके जाने वाली चीज नहीं है। आंख अप्राप्यकारी है। पदार्थको प्राप्त करके नहीं जानता है, इस बात पर प्रकाश डालनेमें यहाँ बहुत बड़ा विस्तार हो जायगा। यह खुद इसी ग्रंथमें आगे बताया जायगा कि आँख और मन ये दो पदार्थोंसे भिड़कर नहीं जानने वाले हैं। अन्य इन्द्रियमें तो यह सम्भव है। स्पर्श इन्द्रिय हाथसे पदार्थको छूकर जानता है, रसना इन्द्रिय रससे पदार्थसे भिड़कर जानता है, घ्राणमें भी जब सम्बन्ध बने तब जानता है। कानोंसे भी जब शब्द स्कन्धका सम्बन्ध हो तब जानता है किन्तु आंख और मन ये पदार्थसे भिड़े बिना भी जानते हैं, ये भिड़कर जान भी नहीं सकते। तब फिर इन्द्रियका और पदार्थका सन्निकर्ष होता, नेत्रका व पदार्थका संयोग सम्बन्ध होता, नेत्रका रूपसे संयुक्त समवाय सम्बन्ध होता, नेत्रका रूपत्वसे संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध होता, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। सन्निकर्षका स्वरूप ही नहींबनता इस कारण सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, किन्तु ज्ञान प्रमाण है। एक सीधी सही बातको न मानना और बुद्धि भी जबदस्ती पैनी बनाकर कुछसे कुछ कल्पनाएँ कर लेना यह तो आत्मकल्याणार्थी पुरुषका काम नहीं है। प्रमाण स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञान को ही कहते हैं।

इन्द्रियसन्निकर्षको प्रमाण माननेपर सर्वज्ञके अभावका प्रसङ्ग— सन्निकर्षको मानने वाले सिद्धान्तमें सर्वज्ञका अभाव होगा, इन्द्रियका परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं बन सकता। इस विषयमें यह अनुमान प्रमाण है कि इन्द्रियां साक्षात् परमाणु आदिक से सम्बन्धित नहीं हो सकती हैं, क्योंकि इन्द्रिय होनेसे। जैसे हम लोगोंमें इन्द्रियाँ परमाणुवोंसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं कर सकीं। इसी प्रकार सर्वज्ञकी भी इन्द्रियां परमाणु आदिकसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं कर सकती। सन्निकर्ष सिद्धान्तमें सर्वज्ञ भी इन्द्रिय और मन वाला माना गया है। केवल एक उसमें तपश्चरणका योगका प्रताप है ऐसा कि कुछ हमसे उसका विशिष्ट प्रकार इन्द्रिय और मन काम करता है, और उस ही योगबलसे सर्वज्ञ बनता है। तो इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ न तो साक्षात् सम्बन्ध बन सकता है और न पर-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परा या सम्बन्ध बन सकता है। इस प्रकरणमें साक्षात् सम्बन्धके अभावकी बात चल रही है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेपर समस्त विश्वका ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां समस्त पदार्थोंके साथ एकसाथ सम्बन्धको प्राप्त नहीं हो सकतीं और परमाणु आदिक सूक्ष्म पदार्थोंके साथ तो इन्द्रियका सम्बन्ध होता ही नहीं है।

इन्द्रियसन्निकर्षसे सर्वज्ञाभावनिवारणार्थ कल्पित योगजधर्मानुग्रहके विकल्प इस प्रकरणमें सन्निकर्ष माननेपर यह आपत्ति दी है कि कोई भी पुरुष सर्वज्ञ न रहेगा क्योंकि इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध ही नहीं बनता। इस बातको सुनकर सन्निकर्ष सिद्धान्तवादी कहते हैं कि सर्वज्ञके तो इन्द्रियका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन सकता है, क्योंकि उनके योगज धर्मका ऐसा ही प्रताप है। कोई अदृष्ट विलक्षण ऐसा धर्म है सर्वज्ञमें कि जिसके प्रतापसे इन्द्रियां परमाणु आदिकके साथ साक्षात् भिड़ सकती हैं। हम लोगोंकी इन्द्रियां सूक्ष्म पदार्थोंके साथ नहीं भिड़ती लेकिन परमात्माकी इन्द्रियां तो भिड़ जायेंगी। अतएव सर्वज्ञ बन जायगा। सर्वज्ञका अभाव नहीं होता ऐसा पूर्व पक्ष रखनेपर अब उनसे प्रश्न किया जा रहा है कि तुमने इन्द्रियमें योगज धर्मका अनुग्रह माना अर्थात् योग समाधि आदिक जो विलक्षण अदृश्य धर्म है उसका प्रताप ऐसा माना इन्द्रियमें जिसके प्रतापसे इन्द्रियका पदार्थोंसे साक्षात् सम्बन्ध बनता है। तो यह तो बतावो कि योगज धर्मका अनुग्रह है क्या चीज ? परमात्माके अदृष्ट प्रतापका उपकार है क्या चीज ? इन्द्रियमें क्या बात उस धर्मने डाल दी ? क्या अपने विषयमें लग रही इन्द्रियमें कोई अतिशय पैदा कर दिया सर्वज्ञने या अपने विषयमें लग रही इन्द्रियमें कुछ सहायता पहुँचाई उस योग समाधिने ? दो प्रश्न किए गए हैं। पूर्व पक्षने यह कहा है कि परमात्माकी इन्द्रियोंका सब पदार्थोंके साथ चाहें सूक्ष्म हों या स्थूल हों, सम्बन्ध बन जाता है क्योंकि उनमें अदृष्ट समाधिका ऐसा ही उपकार है। तो उस उपकारकी बात पूछ रहे हैं कि परमात्माने इन्द्रियमें क्या उपकार किया ? क्या आपने विषयमें प्रवृत्ति करती हुई इन्द्रियोंमें कुछ अतिशय पैदा कर दिया जिससे कि वे परमाणुसे भी सम्बंध करलें ? अथवा उन इन्द्रियोंको कुछ सहायता पहुँचा दें।

योगजधर्म द्वारा इन्द्रियोंमें अतिशयाधानका निराकरण—योगज धर्म द्वारा इन्द्रियमें अतिशय करनेकी बात तो युक्त है नहीं क्योंकि परमाणु आदिकमें इन्द्रियकी परिणति ही नहीं है। अतिशय तो वहाँ पहुंचाया जा सकता कि कुछ माद्दा तो हो किसीमें कुछ काम करनेका। इन्द्रियाँ परमाणुमें लगती ही नहीं हैं। उनका सम्बन्ध ही नहीं होता तो अतिशय क्या पहुँचा दें ! अतिशयकी बात वहाँ ही सम्भव है जहाँ कोई कार्य हो सकता हो, विशेष न कर सकते हों, पर विषय तो हो करनेका तब तो कोई उसमें अतिशय उत्पन्न करदें, पर परमाणु आदिकमें तो इन्द्रियां लगती ही नहीं है अतिशय क्या किया जायगा ? और, यदि परमाणुमें इन्द्रियां लग गयीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसा स्वभाव मानते हो तो फिर अतिशय पैदा करनेकी या अनुग्रह करनेकी क्या जरूरत रही? इन्द्रियोंका परमाणु आदिकमें प्रवृत्ति करना खुद स्वभाव बन गया। शायद यह कहो कि समाधि बलसे ही इन्द्रियां परमाणु आदिकमें लगती हैं तो अब यह विकट समस्या आ गयी। योगजधर्मका अनुग्रह होनेपर तो इन्द्रियां परमाणु आदिकमें लगेंगी और परमाणु आदिकमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होनेपर समाधि धर्मकी सिद्धि होगी तो यह अन्योन्याश्रय दोष हो गया, इसलिए यह बात नहीं है कि परमात्मा, ईश्वर सर्वज्ञ अपनी इन्द्रियमें कुछ अतिशय पैदा कर लेते हैं जिससे परमाणु आदिकमें भी इन्द्रियका सम्बन्ध हो जाता है।

जैन सिद्धान्तमें ज्ञानस्वभावसे सर्वज्ञताकी सिद्धि—जैन सिद्धान्तमें संयोगकेवली अरहंत भगवानके द्रव्येन्द्रिय तो मानी हैं। जैसे हम आपके कान, आँख नाक आदि मौजूद हैं उनके परमौदारिक शरीर हो गया, निर्दोष इन्द्रिय हो गयीं, पर यह ढाँचा सब मौजूद है फिर भी इन्द्रिय द्वारा सर्वज्ञ ज्ञान नहीं करते, क्योंकि उनके समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुका है। ये भाव इन्द्रिय रही नहीं तो द्रव्यइन्द्रियसे सर्वज्ञ देव ज्ञान नहीं करते किन्तु आत्माका ही स्वभाव ज्ञानका है और वह ज्ञानस्वभाव पूर्ण विकसित हो गया है तो स्वभावसे ही वे समस्त विश्वको जानते हैं।

सन्निकर्षवादमें सर्वज्ञताकी पद्धति—सन्निकर्षवादमें यह बताया गया है कि इन्द्रियका सहारा छोड़कर तो ज्ञान हुआ ही नहीं करता। अपनेको हो देख लो, इन्द्रियका और मनका सहारा लिये बिना ज्ञान कर हीं नहीं सकते। तो ऐसा तो किसीके न होता होगा कि इन्द्रिय और मनके बिना अपने आप ज्ञान करलें। तीसरी बात इसमें यह भी पड़ी हुई है कि आत्माका ज्ञान करनेका स्वभाव नहीं माना इस सिद्धान्तमें। आत्मा चेतन तो अवश्य है। पर ज्ञान गुणका सम्बन्ध हो तो चेतन आत्मा ज्ञानी बनता है। तो चेतनका अर्थ उनके यहाँ केवल चैतन्य स्वरूप मात्र है। उसका काम जानने देखनेका नहीं है। अन्य पदार्थोंसे कुछ विशेषता डालनेका यत्न किया जिसमें ज्ञानका सम्बन्ध हो सके, चेतन आत्मामें ज्ञान मौजूद नहीं है, वह तो एक तत्त्व है, सर्वव्यापी है तो वहाँ ज्ञानके समवाय सम्बन्ध होनेसे ज्ञानी माना गया है तो ऐसी स्थितिमें सर्वज्ञ परमात्मा भी अपने आपकी ओरसे ज्ञान नहीं कर सकता। ज्ञानस्वभाव ही नहीं है आत्मामें। तो ज्ञानकी उत्पत्तिके जो साधन हैं इन्द्रिय और मनमें यहाँ भी साधन हैं और सर्वज्ञके भी साधन हैं ऐसा इस सिद्धान्तमें माना गया है और उसीपर ये तर्कणायें चल रही हैं। तो इन्द्रियका पदार्थोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध सर्वज्ञके भी नहीं बना।

योगजधर्मद्वारा इन्द्रियोंमें सहकारित्वकी अयोजना—यदि यह कहो कि सर्वज्ञ देवमें ऐसे योगज धर्मका प्रताप है कि अपने विषयमें लग रही इन्द्रियमें ऐसी वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सहायता पहुंचा देते हैं सर्वज्ञ कि वे इंद्रिय परमाणुवोंके साथ सम्बन्ध करने लगती हैं। तो यह भी बात युक्त नहीं है क्योंकि कोई भी सहायता करे तो अपने विषयका उल्लंघन करके सहायता नहीं पा सकता कोई पदार्थ। जिस पदार्थ में जो कला ही नहीं है उसकी सहायता कोई क्या पहुंचायेगा? अपने विषयका उल्लंघन करके इन इंद्रियमें सर्वज्ञकी सहायताका अनुग्रह बन जाय यह सम्भव नहीं है। यदि इसे सम्भव मानते हो अर्थात् सर्वज्ञ इंद्रियमें ऐसी सहायता पहुँचा देते कि वे इन्द्रियां परमाणु आदिकमें भी लग जायें अर्थात् अपने विषयका उल्लंघन करके भी इंद्रिया काम करने लगे तो एक ही इंद्रिय रूप, रस, गंध, स्पर्श सबको ही जाननेमें क्यों नहीं लग जाती। यह भी अनुग्रह बन बैठेगा फिर ५ इंद्रियकी जरूरत ही क्या है। तो इंद्रियका तो परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन नहीं सकता और फिर साक्षात् सम्बन्ध हुए बिना सबको सर्वज्ञ जानें कैसे। सर्वज्ञका अभाव हो जायगा यदि तुम सन्निकर्षको प्रमाण मानोगे।

समस्त पदार्थोंमें अन्तःकरणके सम्बन्धकी असिद्धि— इंद्रियोंका परमाणु आदिमें सम्बन्ध न होनेसे सर्वज्ञके अभावकी आपत्तिके बाद सन्निकर्ष पक्षमें यह कहा जा रहा है कि इंद्रिय तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानका जनक नहीं हैं, ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, किन्तु एक ही मन सर्वज्ञमें समृद्धि आदिक अदृष्ट धर्मोंसे अनुग्रहीत होकर एक साथ सूक्ष्म आदिक समस्त पदार्थोंके विषयमें ज्ञानको उत्पन्न कर देते हैं, अर्थात् इंद्रियका तो पदार्थसे सम्बन्ध नहीं है सर्वज्ञके किन्तु मनका सम्बन्ध बनता है? इसपर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि मन तो तुम्हारा अत्यन्त अणुप्रमाण है, अत्यन्त छोटा बटके बीजसे भी छोटा मन है और इसी कारण जल्दी भी गति कर करके सब इंद्रियोंसे क्रमसे ज्ञान करा पाता है। उसका भी एक साथ पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं बन सकता मन भी क्रम क्रमसे सम्बन्ध करेगा। अणु प्रमाण मन जहां जहां जिन जिन पदार्थोंमें लगेगा उनका ज्ञान करने लगेगा। एक साथ सब पदार्थोंमें मन नहीं लग सकता।

एक साथ सर्व पदार्थोंके साथ मनके सम्बन्धकी अशक्यता यदि कहो कि सर्वज्ञका मन एक साथ सब पदार्थोंसे सम्बन्ध कर लेता है तो एक ऐसी घटनामें जहां मनको अधिक दौड़ लगानेकी जरूरत भी नहीं होती। निकट ही पांचों विषय मौजूद हों, कमसे कम वहां तो मन एक साथ पांचों इंद्रियका ज्ञान करा देवे। जैसे बेसनकी एक बहुत बड़ी कड़ी कड़ी पपड़ियां बनाई जाय, तेलमें बनावे, और उसे खावे तो उस समय पांचों विषय अत्यन्त निकट हैं। तेलकी गंध आती, पपड़ियाका रूप दिखता, चर्र चर्रकी आवाज कानोंसे सुनाई पड़ती। बड़ा कड़ा स्पर्श भी हो रहा। रसनासे स्वाद भी लिया जा रहा। यहां तो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांचों ही चीजें एक साथ हो रही हैं तो इन सबका ज्ञान भी एक साथ हो जाना चाहिए ना? लगता तो ऐसा ही है कि हाँ, एक साथ सबका ज्ञान हो रहा है और इसे सन्निकर्ष सिद्धान्तने भी नहीं माना।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मनका चिन्ह— मनका चिन्ह एक साथ ज्ञान न उत्पन्न करने देना है । एक साथ सारे विषयोंका ज्ञान न हो सके ऐसा नियन्त्रण रखना यही मनका काम बताया गया है । सर्वज्ञ देवका भी मन समस्त वस्तुवोंमें सम्बन्धको प्राप्त नहीं कर सकता । एक साथ तो सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । वहाँ एक साथ सम्बन्ध हो जाय तो यहाँ भी दूर-दूरकी घटनामें चाहे सम्बन्ध न बने किन्तु अत्यन्त निकट वाले विषयमें तो एक साथ मन काम करदे सो होता नहीं । शायद यह कहो कि जब हमें घट-पट आदिकके अवलोकनके समय मनकी बात क्रमसे बन रही मालूम होती है तो यहां भी क्रम है । बड़ी लम्बी पपड़ियां खानेकी घटनामें भी क्रमसे ही ज्ञान मानना होगा । तो कहते हैं कि सर्वज्ञके भी समस्त पदार्थोंमें मनके सम्बन्धमें क्रम काल्पनिक मान लो । सर्वज्ञका भी मन सब पदार्थोंमें क्रम-क्रमसे लग रहा है ।

ज्ञानस्वभावसे सर्वज्ञता माननेकी युक्तता—यदि यह बात कहो कि सर्वज्ञका फिर प्रताप ही क्या ? उनमें समाधि और योगका ऐसा प्रताप है कि हम आपमें देखी हुई व्यवस्थाका भी उल्लंघन हो जाता है । तो मन एक साथ समस्त पदार्थोंमें भिड़ जाता है । तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई इतनी सिद्ध करनेकी मेहनत क्यों कर रहे हो ? फिर तो सीधा यही मान लो कि समाधिविशेषके कारण उत्पन्न हुए धर्मकी ऐसी महिमा है सर्वज्ञदेवमें कि मनकी अपेक्षा लिए बिना ही अपने ही स्वभावसे समस्त पदार्थोंका ज्ञाता बन जाता है । फिर अदृष्टकी कल्पना ही क्यों करते ? इन्द्रिय, मन सर्वज्ञदेवके हैं और अदृष्टके कारण सबमें एक साथ लगते हैं ये सब व्यर्थकी कल्पनाएँ क्यों करते ? सीधा मान लो कि आत्मा ज्ञानस्वभावी है और जब शुद्ध हो जाता है आत्मा समाधिविशेषके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्रकी पूर्णताके कारण, जब ज्ञान निर्दोष हो जाता है तो एक साथ समस्त पदार्थों का जानने वाला बन जाता है ।

मनका समस्त पदार्थोंके साथ परम्परा सम्बन्धका भी अभाव अणु मनका समस्त अर्थोंके साथ साक्षात् और एक साथ तो सम्बन्ध बन नहीं पाता । सो सन्निकर्ष प्रमाण माननेपर सर्वज्ञका अभाव हो जायगा, क्योंकि इन्द्रिय और मनका परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध बनता ही नहीं । इतने पर भी सन्निकर्ष सिद्धांतमें कहा जा रहा है कि इन्द्रिय और मनका यदि परमाणु आदिकके साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं बनता तो न बने किन्तु परम्परासे तो सम्बन्ध बन जायगा वह किस तरह ? देखिये मन तो महेश्वरके साथ सम्बद्ध और, मनके साथ घट आदिक पदार्थ सम्बद्ध हैं और घट आदिकके साथ रूपका समवाय सम्बन्ध है तो इस तरहसे सम्बंध-सम्बन्धकी कल्पनासे मनका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध बन गया ना ? जैसे रेलगाड़ीका एक इंजनका अनेक डिब्बोंसे सम्बन्ध है, और वे डिब्बे एक दूसरेसे सम्बन्ध होनेके कारण चलने लगते हैं, ऐसे ही मन महेश्वरसे लगा, मनसे घट आदिक लगे, घट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आदिक पदार्थोंमें रूप आदिक लगे तो यों समस्त पदार्थोंको जान लिया जाता। कहते हैं कि इस तरह भी सर्वज्ञताकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सम्बन्ध–सम्बन्ध भी अर्थात् परम्पराका सम्बन्ध भी समस्त वर्तमान पदार्थोंके साथ ही तो रहेगा। जो भूतमें हो गए, जो आगे होंगे उन पदार्थोंसे कैसे सम्बन्ध बनेगा ?

सन्निकर्षके मंतव्यमें अनेक ज्ञानोंके द्वारा भी सर्वज्ञताकी सिद्धिका अभाव—शायद यह कहो कि भूत कालमें उनका भी सम्बन्ध था, भविष्यकालमें उनका भी सम्बन्ध बनेगा तो जब भूतकालमें सम्बन्ध रहा तो वर्तमानकालमें सम्बन्ध नहीं रहा। भविष्यमें सम्बन्ध रहा तो वर्तमानमें सम्बन्ध नहीं रहा। तब भी सबका जानने वाला सर्वज्ञ नहीं बन सका। यदि कहो कि भूत सम्बन्ध भविष्यके परम्परा सम्बन्धसे वर्तमान सम्बन्ध न्यारा है तो भूत भविष्यत्कालीन सम्बन्ध–सम्बन्धजनित ज्ञानसे वर्तमानसम्बन्धसम्बन्धज ज्ञान भी न्यारा हुआ, फिर भी सर्वज्ञता नहीं बनी। एक ज्ञानसे सारे पदार्थ जान लिए जायें तभी तो सर्वज्ञ कहलायेगा, यदि कहो कि बहुत ज्ञानोंसे जान सके तो वह भी सर्वज्ञ है तो यह तो बतलावो कि उन बहुत ज्ञानोंसे जो सबका जानना हुआ वह क्रमसे हुआ या एक साथ ? यदि बहुत ही ज्ञानोंसे सबका जानना क्रमसे बना तो अनन्त काल तक भी सर्वज्ञ नहीं बन सकता। जब क्रमसे जाने तो फिर और जाने, फिर और जाने तो सबका जानना कभी नहीं बन सकता। यदि कहो कि एक साथ उन बहुतेरे ज्ञानोंके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है तो यह बात तो असम्भव है। पदार्थ सारे एक साथ कभी रहे ही नहीं। जो आज हैं वे भूतकालमें न थे, भविष्यमें न होंगे वे एक ही समयमें समस्त पदार्थ रह जायें यह कभी सम्भव ही नहीं हुआ। तो एक साथ मनका सम्बन्ध भी नहीं बन सकता।

ज्ञानस्वभावसे ही सर्वज्ञता व प्रमाणताकी सिद्धि—इस प्रकरणके कथनका प्रयोजन यह है कि इन्द्रियां पदार्थोंके साथ भिड़कर ज्ञानका कारण बनें और यह भिड़ाव ही वास्तविक प्रमाण हो तो इससे एक तो मूल दृष्टिका अभाव हो गया। जिस ज्ञानमें मग्न होकर आत्मा संसारके संकटोंका विनाश कर सकता है उस ज्ञानकी तो सुध भी नहीं रही, केवल एक बाहरी इन्द्रिय पदार्थके भिड़ावपर निगाह रही और फिर सन्निकर्षका स्वरूप भी तो नहीं बनता और जैसा भी सन्निकर्षका स्वरूप मान लिया अपनी कल्पनामें तो उस स्वरूप दृष्टिसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती।

शायद यह कहो कि सर्वज्ञ तो नित्य है, सदा रहता है और सदासे ही वह सबका ज्ञान करता चला आया है और आगे भी सबका ज्ञान करता रहेगा। वह तो नित्य है, उसके सम्बन्धमें तो कुछ सोचना व्यर्थ ही है। वह तो अतुल है, उसकी सबसे विलक्षण महिमा है। ईश्वरकी मायाको कौन पहिचान सकता है ? उसको तो जो कुछ भी असम्भव सी बात कह दो वह भी सम्भव है, इस कारण ईश्वरमें दोष नहीं दे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सकते सन्निकर्षकी अप्रमाणता कहकर, यह भी बात युक्त नहीं है। नित्य ईश्वर अपरिणामी सदासे रहा आया, सदा काल रहेगा और जिसमें कोई तरंग कोई परिणमन उत्पन्न ही नहीं होता ऐसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं है। इस बातका स्वयं इस ग्रंथमें आगे कथन करेंगे कि ईश्वरका स्वरूप अपरिणामी नहीं है और अनादिसे ही वह मलीमसतासे रहित होने और समस्त जीवोंकी व्यवस्था करनेमें प्रवीण होने आदिक रूप ईश्वरका नहीं बनता। ईश्वर तो सर्वज्ञ और अनन्त आनन्दमय है, दोषरहित बन गया अतएव वीतराग है यों कह लीजिए कि ईश्वर कहते ही हैं ज्ञानपुञ्जको। ज्ञानका नाम ईश्वर है, वही प्रमाण है। सन्निकर्ष उपचरित प्रमाण तो बन जायगा, किन्तु मुख्य प्रमाण नहीं बन सकता। अतएव स्व अपूर्वका व्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रमाण है, यही निर्विवाद मानना चाहिए।

इन्द्रियवृत्तिमें प्रमाणस्वरूपका अभाव— कुछ लोग ज्ञानको प्रमाण न कहकर इन्द्रियकी वृत्तिको प्रमाण कहते हैं। नेत्र उघड़े, नेत्रोंका प्रयोग किया, किसी भी इन्द्रियको विषयाभिमुख किया ऐसी इन्द्रियकी वृत्तिका ही नाम प्रमाण है। ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुम इन्द्रिय वृत्तिको उपचारसे प्रमाण मानते हो तब तो कोई हानिकी बात नहीं है लेकिन मुख्य प्रमाण नहीं हो सकता। उपचार प्रमाणका अर्थ है कि साक्षात् जो प्रमाण है उस प्रमाणकी उत्पत्तिमें निमित्त आदिक बाह्य कारण हों वे उपचार कहलाते हैं। तो परोक्ष ज्ञानमें छद्मस्थ अवस्थामें इन्द्रियके व्यापार भी ज्ञानमें साधन कहलाते हैं, लेकिन इन्द्रियका व्यापार ही प्रमाण हो ऐसा नहीं हो सकता। प्रमाण तो ज्ञान है, इन्द्रिय जड़ है। इन्द्रियका जीवके निमित्तसे भी हलन चलन हो तो भी वह आखिर जड़की ही तो क्रिया है। स्वरूपदृष्टिसे देखो तो ज्ञान क्रियाका आधार आत्मा है और इन्द्रियकी क्रियाका आधार पुद्गल है। तो ज्ञानस्वभाव ही मुख्य प्रमाणका कारण है। इन्द्रिय व्यापारको उपचारसे प्रमाण कह सकते हैं।

इन्द्रियवृत्तिकी असिद्धस्वरूपता—दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय व्यापार स्याद्वादके आश्रय बिना स्वरूपसे ही असिद्ध है। इन्द्रिय व्यापारका अर्थ क्या? इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियकी क्रिया। तो इन्द्रियकी वह वृत्ति इन्द्रियसे भिन्न है या अभिन्न है? यदि इन्द्रियसे इन्द्रियकी वृत्ति अभिन्न है तो इसका अर्थ है कि इन्द्रिय ही है। एक ही चीज हुई याने इन्द्रिय व्यापार कहो या इन्द्रिय कहो एक ही बात हुई। तो इन्द्रिय तो हमेशा मौजूद हैं। सोती हुई हालतमें भी इन्द्रियां हैं, वहां क्यों नहीं प्रमाण हो जाता? किसीको बेहोशी हो गई हो अथवा कोई पागल हो गया हो उस स्थितिमें भी इन्द्रियां हैं और इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियसे अभिन्न है तो वहां पर भी प्रमाण क्यों नहीं हो जाता? इस कारण इन्द्रियकी वृत्ति इन्द्रियसे अभिन्न कह नहीं सकते। कदाचित् यह कहो कि सोती हुई हालतमें भी प्रमाण चल रहा है, बेहोशी और पागलकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अवस्थामें भी ज्ञान सही चल रहा है तो फिर सोने और जगनेका भेद खतम हो जाना चाहिए। जो बात जगी हुई हालतमें है वही बात सोई हुई हालतमें मान ली, फिर किस स्थितिको सुप्त कहोगे और किस स्थितिको जागृत कहोगे ? तो इन्द्रियकी वृत्ति ही तुम्हारे सिद्धांतमें सिद्ध नहीं होती। तो स्याद्वादका आश्रय लिये बिना तो इन्द्रियकी वृत्तिका स्वरूप ही नहीं बनता, और स्वरूप बनेगा स्याद्वादके आश्रयसे तो वह अचेतन स्वरूप है। अचेतन प्रमाण नहीं होता।

इन्द्रियका वृत्तिसे सम्बन्धके विषयमें विकल्प—इन्द्रियकी वृत्तिको इन्द्रियसे अभिन्न मानते हो तो इसमें भी आपत्ति आयी थी और यदि भिन्न मानते हो तो इसमें भी बड़ी आपत्ति है। इन्द्रियकी चेष्टा इन्द्रियसे न्यारी है, तो यह बतलावो कि वह चेष्टा इन्द्रियका धर्म है या अन्य पदार्थोंकी तरह कोई स्वतंत्र पदार्थ है ? यदि इन्द्रियका धर्म मानते हो इन्द्रियकी चेष्टाको और भिन्न भी मानते हो तो उस वृत्तिका इन्द्रियसे सम्बन्ध कैसे हो जायगा ? भिन्न भी है और धर्म भी है। तो सम्बन्ध कैसे बन गया ? कौन सा सम्बन्ध है उस भिन्न चेष्टामें और इस इन्द्रियमें ? कौन सा सम्बन्ध है ? तादात्म्य सम्बन्ध है, समवाय सम्बन्ध है अथवा संयोग सम्बन्ध है। सम्बन्ध तीन प्रकारके समझ लीजिए - एक तादात्म्य एक समवाय और एक संयोग। तादात्म्यका तो अर्थ है वही उसका आत्मा है, वही स्वरूप है। समवायका अर्थ है कि है तो भिन्न तत्त्व लेकिन विशिष्ट निकट सम्बन्ध है, और संयोगका अर्थ है दो जुदे पदार्थ हैं, उनका भिड़ाव हो गया, एक जगह आ गया तो इन तीन सम्बन्धोंमेंसे इन्द्रियका वृत्तिके साथ कौन सा सम्बन्ध है ?

तीन सम्बन्धोंका उदाहरण—इन तीन सम्बन्धोंके उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं। वे उदाहरण सही तौरसे इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण मानने वालोंके यहाँ तो न घटेगा, क्योंकि उस सिद्धान्तने तो द्रव्योंके द्रव्यत्वको भी द्रव्यके अतिरिक्त जुदा तत्त्व माना है, तो तादात्म्य क्या रहेगा ? तो तादात्म्य जैसा आत्माका ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान ही आत्मा है। पुद्गलका मूर्तत्व स्वभाव है, यों यह तादात्म्य सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध तो द्रव्यमें गुणका तो इन्द्रिय वृत्ति वाला मानते हैं और कुछ-कुछ उसकी स्वरूप पद्धति करना हो तो यों समझ लीजिए कि जीवका क्रोधके साथ समवाय सम्बन्ध है। स्याद्वाद सिद्धान्तमें समवाय सम्बन्ध तो नहीं माना, इसको कहते हैं तात्कालिक तादात्म्य। जीवके क्रोध भावका क्रोधके साथ तादात्म्य है, किन्तु न पहिले है न बादमें रहेगा। तो समवाय सम्बन्धकी झांकी इस तरहसे समझ लीजिए। और, चौकीपर पुस्तक है, शरीरपर कपड़े हैं ये सारे संयोग सम्बन्धसे हैं।

इन्द्रियकी वृत्तिसे सम्बन्धकी असिद्धि—तो इन्द्रियकी चेष्टा अर्थात् ये नेत्र उघड़ गए, नेत्रोंको खोला तो ऐसी जो चेष्टा हुई उस चेष्टाका और इस नेत्र इन्द्रियके

http://sahjanandvarnishastra.org/

साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि तादात्म्य सम्बन्ध है तो उसमें तादात्म्यसे नेत्र ही हो गया वह सर्वत्र मौजूद है, फिर सोई हुई हालतमें, बेहोशी और पागलपनकी हालतमें भी प्रमाण हो जाना चाहिए। समवाय सम्बन्ध मानोगे तो तुम्हारा समवाय भी व्यापी है और तुम्हारी श्रोत्र इन्द्रिय भी व्यापी है, तब तो सदा ही प्रमाण होते रहना चाहिए किसी जगह इन्द्रियका व्यापार है किसी जगह नहीं है यह बात कैसे बनेगी ? यदि इन्द्रियका और इन्द्रियकी वृत्तिके साथ संयोग सम्बन्ध मानते हो तो संयोग होता है भिन्न भिन्न पदार्थोंमें; तो यह व्यापार भी भिन्न पदार्थ हो गया और इन्द्रिय भी भिन्न पदार्थ हो गया। तब तो उसका सम्बन्ध ही क्या, और उस चेष्टासे इन्द्रियमें अनुग्रह ही क्या होगा।

इन्द्रियका वृत्तिसे सम्बन्धके लिये प्रतिनियतविशेषका अभाव—यदि यह कहो कि यद्यपि इंद्रियकी चेष्टा इंद्रियसे भिन्न है और जुदे जुदे पदार्थ हैं फिर भी इसमें कोई खासियत ऐसी पायी जाती है कि यह वृत्ति इंद्रियकी कहलाती है। तो भला वह खासियत क्या चीज है ? इन्द्रिय विषयको प्राप्त कर लेना, ग्रहण कर लेना क्या यह खासियत है ? अथवा पदार्थके आकार परिणमन बन जाये यह विषयको पा लेना यह खासियत मानते हो तो इसीका नाम तो इंद्रिय सन्निकर्ष है और इंद्रिय सन्निकर्षके बारेमें सो बहुत बहुत वर्णन किया जा ही चुका है। यदि फिर कहो कि इन्द्रिय और वृत्ति ये एक भिन्न पदार्थ हैं और उनके किसी खास कारणका सम्बन्ध होता है तो वह खास कारण और क्या है ? ज्ञेयाकार वृत्ति यदि खास कारण है तो अर्थाकार परिणति बुद्धिमें मानी गई है। इन्द्रियां तो अचेतन हैं उनमें अर्थाकार परिणति नहीं होती और फिर अर्थाकारवृत्तिका स्वरूप भी तो घटित नहीं होगा इंद्रियवृत्ति प्रमाण मानने वालोंके सिद्धांतमें। क्या वह इंद्रियस्वरूप है ? क्या वह इन्द्रियका धर्म है ? अथवा कोई अन्य चीज है ? ऐसे तीन विकल्पोंके दोष पहिले कह ही दिये हैं, इस कारण इंद्रिय वृत्ति प्रमाण है यह बात सिद्ध नहीं होती।

इन्द्रियवृत्तिकी असिद्धि व ज्ञानके प्रमाणत्वका निर्णय— और भी देखिये वृत्ति हुआ परिणाम और इन्द्रियां हुई परिणामी। तो परिणाम परिणामीसे भिन्न होता है कि अभिन्न होता है ? इस पर इस ग्रन्थमें आगे भी कहा जायगा। और संक्षेपमें इतना समझ लो कि परिणाम यदि परिणामीसे भिन्न है तो फिर चर्चा ही क्या करें क्योंकि परिणाम जुदी चीज है और परिणामी जुदी चीज है। एकका दूसरे से वास्ता ही क्या परिणामी मायने द्रव्य और परिणाम मायने पर्याय। द्रव्यसे पर्याय जुदी है तो फिर चर्चा ही क्या करते ? किसकी यह पर्याय है यह बता ही नहीं सकते। और यदि द्रव्यसे पर्याय अभिन्न है तो चर्चा ही क्या करते ? एकरूप हो गया चाहे सर्वस्व द्रव्य कह लो और चाहे सर्वस्व पर्याय कह लो। यों इन्द्रिय वृत्तिका स्वरूप भी नहीं बनता है, फिर इन्द्रियवृत्ति प्रमाण है यह बात भी सिद्ध कैसे होती। इस कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यही मानना चाहिए कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाणके साधन आदिककी खोजमें प्रमाणके स्वरूपका भी विपर्यास कर डाला। यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामें परोक्ष दशासे ये सब ज्ञानके साधन होते हैं किन्तु स्वयं ही तो ये प्रमाण नहीं हैं। प्रमाण तो ज्ञान हो सकता है। कहते ही प्रमाण उसे हैं कि दृढ़ताके साथ जो सही पगी बुद्धि है वही प्रमाण है। तो ज्ञान ही प्रमाण है इन्द्रियवृत्ति प्रमाण नहीं है इस प्रकरणमें यह निर्णय रखिये।

ज्ञातृव्यापारकी प्रमाणताका कथन—प्रमाणके स्वरूपके निर्णयके प्रसंगमें एक दार्शनिकका यह भी कथन है कि ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नहीं है। ज्ञाताका अर्थ है आत्मा। आत्माका व्यापार प्रमाण है, ज्ञान प्रमाण नहीं है। एकदम सुननेमें ऐसा लगता है कि जो आत्माका व्यापार है वह ज्ञान ही तो है किन्तु इस दर्शनमें ज्ञाता (आत्मा) अचेतन है। आत्मा स्वरूपसे चेतन नहीं है, किन्तु चेतन का समवाय सम्बन्ध होता है तो वह चेतन बनता है। कुछ ऐसा सोचा जा सकता कि यह दर्शन कहाँसे निकला कि जब आत्मामें चेतनका सम्बन्ध होता है तब चेतन होता है। आत्मा स्वरूपसे चेतन नहीं है। यह सब तीव्र परीक्षाकी जिसकी इच्छा होती है और वह सीमाका उल्लंघन करके भी तत्त्वको निकालना चाहते हैं तो वहाँ कितनी ही बातें स्वरूप विरुद्ध भी दर्शनमें आ जाती हैं।

आत्माकी पर पदार्थोंसे विविक्तता—अध्यात्म क्षेत्रमें यह तो प्रकट ही है कि धन वैभव मकान आदिक आत्माके नहीं है। आत्मासे सब पृथक् हैं, इसके बाद फिर यह देह भी आत्माका नहीं है, आत्मासे पृथक् चीज है। यह देह हाड़ मांस लोहू आदिकसे बना हुआ है, पौद्‌गलिक है। आत्माके देहसे निकल जानेके बाद इस देहका कौन महत्त्व करता है? बड़े-बड़े नेता लोग जिन पर देशका सब कुछ अवलम्बन रहता है उनका आत्मा भी जब देहसे निकल जाता है तो फिर उस देहका कौन महत्त्व रखता है? हाँ महत्त्व इतना ही रहता है कि ठाठबाठसे चन्दनकी लकड़ीमें जला दिया जाता है। उस देहसे किसीको प्रेम नहीं रहता। और, भीतर चलकर देखो तो इस देहसे भी अधिक सम्बन्ध है कर्मोंका। मरण करनेके बाद दूसरे भवमें यह देह नहीं जाता पर ये कर्म साथ लगे रहते हैं। ये कर्म भी आत्माके नहीं है, अचेतन हैं, पौद्‌गलिक हैं। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है। देखिये जगतके सभी पदार्थ हैं तो अपनेसे भिन्न पर उनसे मोह करके अपनी दुर्गति कर रहे हैं। जिन वस्तुवोंसे स्नेह किया जा रहा है वे भी पानीके बबूलेकी तरह हैं। आज कहीं हैं मरकर अभी कहींके कहीं पैदा हो जायें। किसीसे कुछ नाता नहीं है। यों ही अटपट कोई जीव मिल गया उसे अपना मानकर कितना अपना अनर्थ किया जा रहा है। तो ये कर्म भी आत्माके नहीं हैं।

आत्मद्रव्यकी परिणतियोंसे विविक्तता—आत्माके और अन्दर चलें तो ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

राग द्वेष मोह परिणाम जो उत्पन्न होते हैं वे भी आत्माके नहीं हैं। अब जरा अध्यात्मदर्शनमें उतर रहे हैं। अब आत्माके ही गुणपर्यायमें विविक्तता देखी जा रही है। राग द्वेष आत्माके नहीं हैं क्योंकि ये कभी उत्पन्न हुए और कभी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, आत्माके स्वभाव नहीं हैं। अब जरा और अन्दर चलिये आत्मामें जो विचार उत्पन्न होते हैं, बुद्धि जगती है ऐसी बुद्धिका जगना, विचारोंका होना ये परिणमन भी आत्माके नहीं हैं, क्योंकि ये विचार, ये चतुराई, ये ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुई हैं, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर और इन्द्रिय मनकी समर्थता होनेपर ये विचार उत्पन्न हुए हैं। विचार आत्माके स्वरूप नहीं हैं। कुछ और भीतर चलिये तो आत्मामें जो एक शुद्ध ज्ञान भी होता है, ज्ञान परिणमन, ज्ञप्तिक्रिया भी होती है तो भी शुद्ध जानन भी जो रागद्वेषसे रहित है और विचार तर्क रूप भी नहीं है किन्तु जैसे पदार्थ हैं तैसी ही स्पष्ट जाननक्रिया हो रही है ऐसा ज्ञान परिणमन भी आत्मद्रव्यका नहीं है क्योंकि आत्मद्रव्य शाश्वत है और यह ज्ञानकी क्रिया यह पर्याय अनित्य है।

आत्माको चेतनासे विविक्त निहारनेका प्रयास—आत्मा शाश्वत चित्स्वभावरूप है, चिदतिरिक्त भावोंसे विविक्त है यहाँ तक विविक्तताकी बात देखें वह तो युक्त है लेकिन एक दर्शन यहाँ तक उतर गया कि आत्माके चेतना भी नहीं है। और, उसके यहाँ तक उतरनेका एक कारण हो सकता कि जब तक आत्मामें चेतनता समझेंगे, ज्ञान समझेंगे तब तक तो सारे संकट सहने पड़ेंगे। क्योंकि जगके सारे विकल्प, सारे संकट ज्ञानकी वजहसे हो रहे हैं उसके दर्शनमें, न जानकारी आये, न कोई दुःख हो। कोई अनिष्ट समाचार जाननेमें आ गया तो दुःख हो गया। जाननेमें न आता तो दुःखकी कोई बात न थी। कहीं २० हजारका टोटा पड़ गया, जाननेमें आ गया तो दुःख है नहीं तो कोई दुःख न था। तो सारे दुखोंकी जड़में ज्ञान कारण है एक मोटी कल्पनामें। तो इस दर्शनने चाहा कि आत्मामेंसे चेतनकी रस्सी ही काट दें और उस चेतनसे शून्य कोई आत्माका स्वरूप निरखने लगें तो ये ज्ञान विकल्प दुःख सब दूर हो जायेंगे। सम्भव है कि यह सोचा हो और उस आधारमें आत्मामें चेतनता भी न मानते हो, किन्तु चेतनताके सम्बन्धसे आत्मा चेतन है यों अचेतन अज्ञानरूप आत्माके व्यापारका नाम प्रमाण है ऐसा मंतव्य भी यथार्थ नहीं है।

प्रमाणके पूर्वपक्षोंके निरूपणके भ्रमका मर्म—यह परीक्षामुखसूत्रका प्रथम सूत्र है। इसमें प्रमाणका स्वरूप बताया है कि जो निश्चय और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान है वह प्रमाण है। इस प्रसंगमें ज्ञानातिरिक्त भावको प्रमाण माननेके पूर्वपक्ष आये हैं और जिस क्रमसे अभी तक कहा गया है उस क्रमको देखिये। भेदसे अभेदकी ओर बढ़ कर अज्ञानको प्रमाण माननेका पूर्वपक्ष किया है। सबसे पहिले कारकसाकल्यको प्रमाणकी बात रखी। चाहे ज्ञानरूप हो चाहे अज्ञानरूप हो। जितने ज्ञानमें साधक पदार्थ हैं उन सबका जुड़ाव हो जाय वह प्रमाण है। तो यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बहुत मोटी दृष्टि रही। आत्मा मन पदार्थ इन्द्रिय ये सब जुड़ जायें तो यही प्रमाण होता है। इसके बाद सब पदार्थ और साधनकी बातको तो महत्त्व नहीं दिया, किन्तु इन्द्रिय और पदार्थका लगाव बने, सम्बन्ध बने तो प्रमाण है यह बात रखी। तो कारकसाकल्यमें तो बहुत बुद्धि भ्रमाई और इन्द्रिय सन्निकर्षमें यहाँ तक आये कि इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्बन्ध है वह प्रमाण है। इसके बाद फिर और अभेदमें चलें तो इन्द्रिय वृत्तिको प्रमाण कहा। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धको तो सन्निकर्ष कहते हैं। उसमें दो बातें रखी और इसमें इन्द्रिय वृत्ति रखी नेत्र उघाड़े जायें और हस्त आदिकका कोई व्यापार हो वह प्रमाण है। अब इसके बाद और भीतर चलें तो ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण कहा। आत्माका जो व्यापार हो, पुरुषार्थ हो, चेष्टा हो वह प्रमाण है।

ज्ञातृव्यापारकी प्रमाणताका मूल आलोचन—बात तो ठीक है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है, किन्तु इसमें इतनी छांट रखना चाहिए कि आत्माके व्यापार तो दो प्रकारके हैं—एक तो प्रदेश परिस्पंदरूप और एक ज्ञानरूप। आत्मा हिला, एक जगहसे दूसरी जगह चला, चाहे वह शरीरके सम्बन्धसे चला हो और चाहे मरणके बाद चला हो, परिस्पंद तो आत्मामें होता है। तो आत्माका परिस्पंद भी व्यापार है, पर परिस्पंद प्रमाण नहीं है। हलन चलन गमन आत्माका एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाना यह जाना कोई प्रमाण चीज नहीं है, जिस क्रियामें जाननेका सम्बन्ध नहीं। और, एक व्यापार है जाननरूप। क्रियासे प्रयोजन नहीं। जो पदार्थ हैं, सत् है वह जाननेमें आ गया तो आत्माका जो जाननरूप व्यापार है वह प्रमाण है। लेकिन इस मंतव्यमें तो यह बात रखी गई है कि आत्मा तो स्वरूपतः चेतन ही नहीं है। चेतनका समवाय सम्बन्ध होनेसे आत्मा चेतन होता है। उस चेतन आत्माका व्यापार जो कि चेतन है, ज्ञानरूप है वह प्रमाण है और, यह व्यापार है पदार्थको जैसा है तैसा ही प्रकाश करने वाला, कितनी परस्पर विरुद्ध सी बात लग रही है। एक ही वाक्यमें यह कहा जा रहा है पूर्वपक्षमें कि पदार्थका ज्योंका त्यों प्रकाश करा देनेवाला ज्ञाताका व्यापार अज्ञानरूप है फिर भी प्रमाण है। पहिले तो बताया पदार्थ का सही स्वरूप प्रकाश करा देने वाला और फिर कह रहे अज्ञानरूप। पदार्थका ग्रहण भी करा दे और अज्ञानरूप रहे।

ज्ञातृव्यापारकी उपचारसे प्रमाणता—खैर मान भी लो कोई आत्माका ऐसा व्यापार भी हो अर्थतथात्वप्रकाशक जो कि ज्ञानरूप नहीं है, सो यदि है भी तो उपचारसे प्रमाण है, वास्तवमें प्रमाण नहीं है। जैसे धर्मचर्चा चलते हुएमें कोई पूछे कि इसका प्रमाण क्या है? तो झट किताब उठाकर बीचमेंसे लिखा हुआ दिखा देते हैं कि देखो यह प्रमाण है, पढ़ लो। तो क्या ये अक्षर, ये पुस्तक प्रमाण है? ये तो उपचारसे प्रमाण हैं, परमार्थसे तो ज्ञान प्रमाण है। उन अक्षरोंको पढ़कर जो ज्ञान

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बना वह साक्षात् प्रमाण है। उन अक्षरोंको पढ़कर उस मंतव्यका प्रतिभास कर सकने में ये बाह्य साधन हैं। तो क्या यहाँ पुस्तक प्रमाण नहीं रही ? रही, इस कारण कि प्रमाण भूत ज्ञानके करानेमें साधन बनी। तो उपचार प्रमाण हुआ। सीधा प्रमाण तो ज्ञान है।

ज्ञातृव्यापारके ग्राहक प्रमाणका प्रश्न— इस पक्षमें यह बताया जा रहा है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है। तो आचार्यदेव पूछ रहे हैं कि आत्माके व्यापारका निर्णय तुमने कैसे कर लिया ? कि आत्मामें व्यापार हुआ करता है ? किसी प्रमाणसे ज्ञातृव्यापारको तुमने ग्रहण किया है क्या ? यदि समझा है, ग्रहण किया है तो वह कौनसा प्रमाण है जिस प्रमाणसे तुमने आत्माके व्यापारको ग्रहण किया है ? आत्मा का व्यापार कौन सा ? जाननेमें आये हुए पदार्थ और जानने वाला आत्मा, इनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध बने ऐसा सुझाव आकर्षक बने, दोनोंका वह लगाव बने जिसमें पदार्थके स्वरूपमें प्रकाश हो जाय, पदार्थ जाननेमें आ जाये, ऐसे व्यापारको प्रमाण कह रहे हैं इस सिद्धांतमें। उस व्यापारकी बात पूछी जा रही है कि यह आत्मव्यापार क्या प्रत्यक्षसे ग्रहणमें आया है या अन्य किसी प्रमाणसे ? तुमने आत्माके व्यापारको क्या प्रत्यक्षसे जाना है ?

इन्द्रियप्रत्यक्षकी प्रमाणताका अनियम— यदि ज्ञातृव्यापारको प्रत्यक्षसे जाना तो प्रत्यक्ष तो तीन प्रकारके होते हैं—एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और एक मानसिक प्रत्यक्ष। अनुभवमें जो बात उतरी वह स्पष्ट प्रत्यक्ष होती है। अनुभवमें उतरी हुई बातसे बढ़कर तो और प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता। इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानसिक प्रत्यक्ष तो फेल हो जाते, पर अनुभव प्रत्यक्ष कभी फेल नहीं होता। इन्द्रिय प्रत्यक्षकी स्थिति तो यह है कि आँखों देखी बात भी कही झूठ निकले। जैसे किसी की अपनेसे लड़ाई है वह किसीसे ५० हाथ दूर पर खूब घुलमिलकर बातें कर रहा है और आप उसे आंखो देख रहे हैं तो आप तो यही सोचेंगे कि यह हमारी बुराई कर रहा है पर क्या सच है ऐसा ? सच तो नहीं है।

इन्द्रियप्रत्यकी अप्रमाणतका एक उदाहरण एक घटना ऐसी बताई गई है कथानकमें कि एक राजाका विस्तर एक नौकर लगाता था, वह नौकर विस्तर लगानेमें बड़ा प्रवीण था, बड़ी कोमल शैया सजाता था। एक दिन नौकर के मनमें आया कि हम रोज यह विस्तर सजाते हैं, थोड़ा लेटकर देखें तो सही कि इसमें राजा को कितना आराम मिलता होगा, सो वह चादर तानकर लेट गया। दो मिनट में ही उसके निद्रा आ गई, सो गया। जब रानी आई तो वह भी रोज की तरह उसी पलंग पर लेट गई और सो गई। थोड़ी देर बाद राजा आया, यह दृश्य देखकर उसे बड़ा गुस्सा आया, सोचा कि मैं तलवारसे दोनोंका शिर उड़ा दूं, लेकिन कुछ विद्वानोंके साथ रहनेसे उसमें कुछ विचारशक्ति आयी थी, सो वह सोचता है कि इन्हें जगाकर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देखें तो सही कि मामला क्या है ? भावुकतामें आकर कोई निर्णय न बनाना चाहिए, सो पहिले रानीको जगाया तो वह एकदम अचम्भेमें आ गई, यह क्या ? राजा तो यह हैं ! यह कौन पड़ा है ? तब जो बात-चीत हुई, उससे राजाको यह निर्णय हुआ कि यह धोखा हुआ है। रानीको भी विदित नहीं कि यह कौन है ? नौकरको जगाया तो वह तो डरके मारे कांपने लगा, सोचा कि मैं तो दो मिनटको लेटा था और नींद आ गयी। मुझे यह पता नहीं कि रानी भी मेरे पास लेटी थी। सोचता है कि मैंने बड़ा अपराध किया जो दो दो मिनटको सोनेका संकल्प किया। तो आंखों देखी बात भी झूठ निकली।

मानसिक जचावकी अप्रमाणताका व अनुभूतिकी प्रमाणताका एक उदाहरण—अब मनकी बात देखो। मन मायने युक्तियां, मानसिक प्रत्यक्ष भी झूठ हो सकता है। किसी पुरुषके दो स्त्री थीं। मान लो बड़ी स्त्रीके तो पुत्र न था और छोटीके था, तो बड़ीने झगड़ा उत्पन्न किया, केस दायर किया यह लड़का तो मेरा है इसका नहीं है। वकील भी आया, चर्चा चली। तो वकीलने युक्ति दी कि देखिये ! पतिका जो वैभव होता है उसपर स्त्रीका हक है कि नहीं ? वह वैभव स्त्रीका कहलाता है या नहीं ? हां, कहलाता है। तो दुनियां जानती है कि यह लड़का पति का है, जो भी पतिकी चीज है उस पर स्त्रीका भी आधा हक है। लो युक्तिसे सिद्ध कर दिया, लेकिन राजा सोचता है कि एक लड़का दो स्त्रियोंका कैसे होगा ? राजाने कहा—अच्छा, इसका कल निर्णय करेंगे। दोनों स्त्रियोंको अलग-अलग कोठरीमें ठहरा दिया। उसे निर्णय करनेकी बुद्धि भी समझमें आयी। दूसरे दिन दोनों स्त्रियां जब सामने आयीं तो राजा तलवारसे काटने वालोंको बुलाकर कहता है कि देखो भाई ! यह लड़का दोनों स्त्रियोंका है इसलिए इस लड़केके दो हिस्से कर दीजिए, पेटसे बराबर बराबर दो टुकड़े कर दीजिए। ज्यों ही उस लड़केके पास तलवार वाला खड़ा हुआ कि छोटी स्त्री झट कहने लगी कि महाराज यह लड़का मेरा नहीं है। इसी का है, इसे दे दीजिये अब इस घटनाको देखकर राजाने अनुभव कर लिया और जो स्त्री काटनेके लिए मना करती है उसीको वह लड़का दे दिया। उसका यह भाव था कि यह जिन्दा तो रहा आये, कहीं रहे, मैं इसकी सकल देखकर ही खुश रहूँगी। जिस स्त्रीका लड़का था वह तो उस लड़केकी मृत्यु न चाहती थी और जिस स्त्रीका लड़का न था वह तो बहुत खुश हो गयी। कहती है—हां महाराज आपका निर्णय बिल्कुल बढ़िया है, दूधका दूध पानीका पानी। उसे तो ईर्ष्या थी कि यह लड़का खत्म ही हो जाय। तो यह दिलकी बात, अनुभवकी बात प्रमाण हुई। यहां भी अब तक मानसिक प्रत्यक्ष है, इससे बढ़कर बात होती है आत्माकी अनुभूति। तो प्रत्यक्ष तीन तरहके हैं—स्वसम्वेदन, बाह्यइन्द्रियसे उत्पन्न हुआ और मनसे उत्पन्न हुआ। इन तीनोंमेंसे कौन सा प्रत्यक्ष आत्माके व्यापारका ग्रहण करने वाला है सो बताओ ? ऐसा ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानने वाले दार्शनिकसे स्याद्वादी पूछ रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वसंवेदनसे अज्ञानरूप आत्मव्यापारकी असिद्धि आत्माका व्यापार प्रमाण है ऐसा पक्ष रखने वाले दार्शनिकोंसे पूछा जा रहा है कि ज्ञाताका व्यापार तुमने कुछ ग्रहण भी किया है क्या ? आत्माके व्यापारको तुमने प्रत्यक्षसे जाना है ? तो प्रत्यक्षमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे तो जान नहीं सकते क्योंकि स्वसम्वेदनका विषय अज्ञान नहीं माना। स्वसम्वेदनसे तो हम ज्ञानका सम्वेदन कर सकेंगे कि घट आदिक पदार्थोंका भी स्वसम्वेदन होता है ? स्वसम्वेदनका विषय ज्ञान होता है अज्ञान नहीं होता। जैसे चौकी हमने जाना तो स्वसम्वेदनसे नहीं जाना, स्वानुभवसे नहीं जाना, ज्ञानसे जाना, और, और ज्ञान हैं पर स्वसम्वेदन ज्ञानका विषय तो स्व होता है। स्व मायने आत्मा व सम्वेदन मायने ज्ञान। तो ज्ञानका स्व विषय हो तो उसे स्वसम्वेदन कहते हैं। स्वसम्वेदन तो अज्ञानमें होता नहीं आत्मव्यापार प्रमाण मानने वालोंने भी नहीं माना।

इन्द्रियोंसे ज्ञातृव्यापारके ग्रहणका अभाव यदि कहो कि बाह्य इन्द्रियों से हम ज्ञाताके व्यापारका प्रत्यक्ष कर लेंगे, आत्माके व्यापारको प्रमाण माना ना, और वह व्यापार है इसका अज्ञानरूप क्योंकि आत्मा इनके सिद्धान्तमें स्वरूपतः चेतन नहीं है, किन्तु चेतनाका सम्बन्ध होनेसे आत्मा चेतन बनता है। तो ऐसे आत्माके व्यापारका ग्रहण बाह्य इन्द्रियोंसे नहीं बनता क्योंकि इन्द्रियां तो अपने सम्बद्ध अर्थमें विषयभूत अर्थमें प्रवृत्त हुआ करती हैं। ज्ञाताके व्यापारके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध तो नहीं है जिससे कि ये इंद्रियां आत्मव्यापारको प्रत्यक्ष कर सकें। इन्द्रियका तो प्रतिनियत रूप, रस, गंध, स्पर्श, गंध ये ही विषय हैं। तो बाह्य इंद्रियोंसे भी आत्मव्यापार का ज्ञान नहीं बना।

मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञातृव्यापारके ग्रहणका अभाव— मानसिक प्रत्यक्ष से भी आत्माका व्यापार नहीं जाना जाता, क्योंकि ऐसा कहां प्रतीत हो रहा है कि यह ज्ञाताका व्यापार है। मनका विषय माना भी नहीं है कि ज्ञाताके व्यापारको मन जान ले, और मन यदि प्रतीतिके बिना किसीको जानने वाला मान लिया जाय तो फिर धर्म आदिक जो अतीन्द्रिय तत्त्व हैं उनका भी मन प्रत्यक्ष करले तो मनसे भी ज्ञाताका व्यापार जाना नहीं जाता।

ज्ञातृव्यापारका अनुमान द्वारा अग्रहण—यहां पूर्वपक्षकारने यह सिद्धांत रखा कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु आत्माका व्यापार प्रमाण है और, वह व्यापार है अज्ञानरूप तथा अर्थका सही सही प्रकाश करने वाला। तो पहिले तो यही सुनने में खटक आ रही है कि ज्ञाताका व्यापार अर्थका प्रतिभास करने वाला है और अज्ञान रूप है। जो प्रतिभास करे वह अज्ञानरूप कैसे ? यदि यह मान लिया जाय कि ज्ञाता का ज्ञानरूप व्यापार पदार्थका प्रकाश करता है तो कोई गड़बड़ी नहीं। तो प्रत्यक्षसे तो आत्मव्यापारकी सिद्धि हुई नहीं अनुमानसे भी नहीं सिद्ध होती, अज्ञानरूप आत्म-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

व्यापारकी प्रमाणता, क्योंकि अनुमान वहाँ होता है जहाँ दो चीजें हों साध्य और साधन, फिर उनका सम्बन्ध भी जान लिया गया हो तब तो एक चीजके ग्रहणसे दूसरेको ज्ञान हो जाता है। जैसे धुवाँ और अग्नि इन दोनोंका सम्बन्ध है। हम सब लोग खूब जानते हैं कि अग्नि कारण है धुवाँ कार्य है। जहाँ धुवाँ होता है वहाँ समझ लेना चाहिए कि यहाँ आग है धुवेंका और अग्निका जब अविनाभावी सम्बन्ध जान लिया गया तब कहीं सिर्फ धुवाँ दीखे, अग्नि न दीखे तो अग्निका अनुमान होता है। इसी तरह ज्ञातृव्यापारका आप अनुमान बनाते हो तो वह साधन बतावो जिसका आत्मव्यापारसे अविनाभाव सम्बन्ध हो और फिर उसको जाननेसे ज्ञातृव्यापारको जान लिया जाय क्योंकि अविनाभावरूप नियमसे ही अनुमान प्रमाण बनता है। जो चीज जिसके बिना न हो वह हो तो साध्यकी सिद्धि नियमसे है अन्य सम्बन्धकी प्रतिष्ठा नहीं है, कारण हो तो कार्य जरूर हो ऐसा नियम तो नहीं है। और–और भी कई सम्बन्ध जुड़ जाये तो वे सही नहीं बैठते किन्तु अविनाभाव सम्बन्ध हो तो वह सही नियम बैठता है। तो वह अविनाभाव सम्बन्ध तुमने जाना कैसे ?

ज्ञातृव्यापारकी सिद्धिमें अन्वयनिश्चयका अभाव अविनाभाव सम्बन्ध जाना जाता है दो प्रकारसे। एक अन्वयके निश्चयसे और एक व्यतिरेकके निश्चयसे। जैसे धुवाँको देखकर अग्निका ज्ञान कर लिया वह तो है अन्वयनिश्चय और जहां ऐसा निश्चय किया कि जहां अग्नि नहीं होती वहां धुवां नहीं होता, और फिर धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान करे तो यह हुआ व्यतिरेकनिश्चयके द्वारा अग्निका ज्ञान। तो ज्ञातृव्यापारका तुम अन्वय निश्चयसे ज्ञान करते या व्यतिरेक निश्चयसे ? अन्वयसे करते हो तो तुमने वह अन्वय प्रत्यक्षसे जाना या अनुमानसे ? प्रत्यक्षसे तो कह नहीं सकते। ज्ञाताके व्यापारका स्वरूप प्रत्यक्षसे तो निश्चित ही नहीं है। जब साध्य और साधन दोनों पहिले ज्ञानमें आ गए हों प्रत्यक्ष सम्बन्धसे तब तो एकके ज्ञानसे दूसरेका ज्ञान होगा तो जब ज्ञानका व्यापार प्रत्यक्षसे नहीं जाना तब फिर जो हेतु दोगे उसका तो चिन्तन करना ही व्यर्थ है। यदि कहो कि अनुमानसे हम जान लेंगे अविनाभाव सम्बन्ध। तो यह भी बात सही नहीं है क्योंकि पहिले अन्वय सम्बन्धका निश्चय हो तब तो अनुमान चले जब अनुमान बने तब अविनाभावके सम्बन्धका निश्चय हो। यदि दूसरे अनुमानने किया तो अनावस्था दोष आयगा। फिर उसके अन्वयका निश्चय अन्य अनुमानसे करें। तो अन्वयके निश्चय द्वारा आत्मव्यापारका काम नहीं बनता।

ज्ञातृव्यापारकी सिद्धिमें व्यतिरेकनिश्चयका अभाव - व्यतिरेकनिश्चय द्वारा भी आत्मव्यापारकी प्रमाणताका अनुमान भी सिद्ध नहीं है। व्यतिरेक निश्चय का रूप यों बनना चाहिये कि ज्ञाताका व्यापार न हो तो अर्थको प्रकाश नहीं होता। इससे ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है। यह व्यतिरेकनिश्चयका ढांचा है। तो यह बतलावो कि ज्ञाताका व्यापार न होना यह भी तुमने जाना है क्या कभी ? तो ज्ञाताके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यापारका अभाव तुमने कैसे जाना ? पहिले दीखा हो और फिर न दीखा तो तब तो कह सकते कि भाई ज्ञाताका व्यापार नहीं है। इस कमरेमें चौकी नहीं है यह तब किसीने जाना जब कि पहिले चौकीका परिचय कर लिया है। जिसे वस्तुका, चौकीका परिचय ही नहीं है उसका अभाव भी कोई क्या सिद्ध करेगा। यदि कहें कि कभी भी नहीं देखा और फिर भी अभाव बने तो यों तो जिस चाहेका अभाव सिद्ध कर लो। यहाँ न तो स्वभावसे अनुपलभ्य है, न कारणसे, न व्यापारसे। और न ऐसा है कि आत्मव्यापारका कोई विरोधी हो और उसकी सता देखो तो उससे भी ज्ञाताके व्यापारका अभाव समझा जा सकता है। जैसे ठंडका विरोधी गर्मी है तो जहाँ हम हम गर्मी देखें वहां निश्चय करलें कि ठंढ नहीं है, किसी भी प्रकारसे तुम्हारा अज्ञान-रूप आत्मव्यापार सिद्ध नहीं होता। प्रमाण क्या मानोगे ? व्यतिरेकनिश्चयके लिये जगह-जगह जा जाकर यदि तुम्हें ज्ञाताका व्यापार न मालूम पड़े तब तो कहें कि नहीं है, पर वह तो सद्भावरूप है ही नहीं अज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार, तो उसका अभाव भी क्या सिद्ध कराते ? तो ज्ञाताका व्यापार अज्ञानरूप होकर भी प्रमाण है यह बात युक्त नहीं बैठती।

ज्ञानातिरिक्त भावोंकी उपचारसे प्रमाणताकी सम्भावना – सीधी सी बात है कि ज्ञान प्रमाण है, लेकिन ज्ञानके प्रमाणताकी बातें छोड़कर अन्य–अन्य बातोंमें प्रमाण क्यों ढूंढा जा रहा है ? पूर्वपक्षकारों द्वारा यों ढूंढा जा रहा है कि दुनिया भी ज्ञानको प्रमाण न ढूंढकर चीजको प्रमाण कहा करती है। इस मामलेमें तुम्हारा सबूत क्या है ? तो झट रुक्का, गवाह, मौका आदि दिखा दिया, कब्जा बता दिया, लो साहब प्रमाण। लोकमें ये सब प्रमाण माने जाते हैं। सो यो ही दार्शनिकों ने ज्ञानको छोड़कर अन्य–अन्यको प्रमाण ढूंढनेकी चेष्टा की, किन्तु जैन सिद्धान्त यह कहता है कि हजारों प्रमाण ढूढ लो ज्ञानातिरिक्त, वे सबके सब प्रमाण उपचारसे बनेंगे। साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही होता है तो आत्मव्यापारका सद्भाव ही सिद्ध न हो सका तो प्रमाण क्या कहेंगे ?

अजन्य नित्य ज्ञातृव्यापारसे प्रमाणव्यवस्थाका अभाव – खैर मान भी लिया जाय कि आत्माका व्यापार है कोई और वह प्रमाण माना जा रहा है तो वह ज्ञाताका व्यापार किन्हीं दूसरे पदार्थोंसे उत्पन्न किया गया है या नहीं ? अजन्य है या जन्य है इन दो बातोंका उत्तर दो ? यदि किसी भी पदार्थसे आत्माकी चेष्टा अनुत्पन्न है तो वह अजन्य आत्मव्यापार सद्भावरूप है या अभावरूप ? अभावरूप मानोगे तो वह नित्य है या अनित्य ? आत्माका व्यापार जो कारकोंसे उत्पन्न नहीं हुआ और है सद्भावरूप तो नित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि आत्मव्यापार यदि नित्य हो जाय तो अंधे भी देखने लगें। क्योंकि आत्मव्यापार तो नित्य हैं, हर जगह मौजूद हैं, फिर सोये हुए भी जगते हुएकी तरह जानने लगेंगे या सभी लोग सब कुछ जानने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लगगे, क्योंकि आत्मव्यापार नित्य है और वह अर्थका प्रकाश करता है। तो सबको सब जगह अर्थज्ञान हो जाना चाहिए। फिर जो पदार्थोंका अन्वेषण करते हैं जानकारीके लिए तो उनका अन्वेषण व्यर्थ हो जायगा। क्यों खेद हो किसीको और क्यों तरकीबें बनाई जा रही हैं ज्ञान उत्पन्न करनेकी ?

ज्ञातृव्यापारको अजन्य व अनित्य माननेपर दोष— यदि यह कहो कि आत्मव्यापार उत्पन्न तो किसीसे नहीं हुआ, किन्तु है अनित्य, तो यह तो विरोधकी बात है। जो कभी उत्पन्न ही नहीं होता वह अनित्य कैसे हो जायगा ? आकाश उत्पन्न ही नहीं हुआ तो क्या वह अनित्य है ? अनित्य वही होता जो उत्पन्न हुआ करता अथवा मान लो अनित्य है तो क्या इतना अनित्य है कि दूसरे समय भी नहीं रहता, या कुछ काल तक रहता है ? आत्माके व्यापारकी बात कह रहे हैं। इस प्रसग में जल्दी समझनेके लिए आत्मव्यापारकीका अर्थ बुद्धि रख लीजिए। तो वह बुद्धि तो कालान्तरमें ठहरती ही नहीं ऐसा तो इन दार्शनिकोंने माना है। और जब दूसरे समय बुद्धि नहीं ठहरती तो यदि कुछ फल हो सकता है तो वह उसी समय हो गया, फिर पदार्थके अन्वेषणकी क्या जरूरत है। यदि, ज्ञाताका व्यापार क्षणिक है तो जब क्षणिक हो गया, दूसरे समय नहीं ठहरा तो सब अर्थोंका प्रतिभास हो हीं नहीं सकता, क्योंकि एक क्षणके बाद ज्ञाताका व्यापार खतम हो गया, दूसरे समय नहीं ठहरा तो सब अर्थोंका प्रतिभास हो ही नहीं सकता क्योंकि एक ही क्षणके बाद ज्ञाताका व्यापार खतम हो गया, अब अर्थोंका प्रतिभास कौन करे ? यदि किसी दूसरे समयमें स्वयं ही अपने आप आत्मामें अन्य व्यापार उत्पन्न हो जाते हैं तो "भाई जो किसीसे उत्पन्न नहीं होता, अन्य पदार्थोंके आधीन नहीं है उसमें यह नियम नहीं बन सकता अमुक देशमें तो होता अमुक देशमें नहीं होता। अमुक समयमें होता अमुक समयमें नहीं होता, यह भेद तो वहाँ ही बनता है जहां दूसरेकी आधीनता हो। अन्यथा फिर तो निरन्तर व्यापार होते रहना चाहिए। सो इससे भी सदा अर्थका प्रतिभास होते रहना चाहिए। फिर तो सोया हुआ, जगता हुआ, पागल ये सभी सर्वज्ञ कहलायेंगे। सबको सब कुछ ज्ञान हो जाना चाहिए।

खुदकी दुर्लभतापर आश्चर्य—जैसे कहते हैं ना कि अपने आपकी चीज अपने आपको ही मिलना दुर्लभ हो रहा है। ऐसे ही जिसकी चर्चा कर रहे हैं— प्रमाणका लक्षण क्या है, यह क्या किसी दूसरेकी चर्चा है ? अपनी ही बात है और वह अपनेको ही दुर्लभ हो रही है, यह कितनी अंधेरकी बात है। जैसे आज कल भी कन्ट्रोल वगैरहके कुछ ऐसे नियम हैं कि अपनी ही वस्तुका खुद प्रयोग नही कर सकते ऐसेंही खुदकी ही चर्चा हो रही है और वही अपनेको दुर्लभ हो रही है। ये दार्शनिक अपने सिद्धान्तमें रख रहे हैं कि ज्ञान प्रमाण नहीं है किन्तु आत्माका व्यापार प्रमाण है। तो व्यापार पदार्थोंसे उत्पन्न किया जाता या नहीं उत्पन्न किया जाता ये दो विकल्प रखे गए थे। उत्पन्न नहीं किया जाता इसका तो निराकरण कर दिया।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जन्य क्रियात्मक व्यापारकी असिद्धि — यदि यह कहो कि उत्पन्न किया जाता है वह आत्मव्यापार जिसे हम प्रमाण सिद्ध कर रहे हैं तो वह उत्पन्न किया गया आत्म व्यापार क्या क्रियारूप है या अक्रियारूप हलन चलन जाना आना इन रूप आत्माकी चेष्टा है या हलन चलन न हो ऐसी चेष्टा है ? यदि क्रियारूप मानते हो तो हलन चलनरूप है। तो हुई या इससे कुछ विरुद्ध बात हुई ? तो हलन चलनकी बात तो आत्मामें बनती नहीं। इस सिद्धांतमें आत्मा एक माना है और उसमें हलन चलन नहीं माना है। देखिये इस प्रसंगमें कितनी बातें एक साथ मान ली आत्मा एक है, सबमें व्यापी है, परस्पंद नहीं करता, निश्चल है और उसका व्यापार प्रमाण है और वह व्यापार अज्ञानरूप है। कितनी विरुद्ध बातें इस मंतव्यमें मानी हैं। यदि कहो कि परिस्पंदरूप क्रिया नहीं है तो जिसके कुछ भी हलन चलन नहीं है वह फल क्या पैदा करेगा। अभाव तो फलका जनक नहीं होता। तो क्रियात्मक व्यापार सिद्ध नहीं होता।

जन्य अक्रियात्मक ज्ञातृव्यापारकी असिद्धि अब आत्माका अक्रियात्मक व्यापार मानते हो तो वह ज्ञानरूप व्यापार है या अज्ञानरूप ? आत्माकी चेष्टा प्रमाण है और वह चेष्टा अक्रियात्मक है। तो वह ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप ? यदि ज्ञानस्वरूप मानते हो तो जो ज्ञानस्वरूप है वह अन्य प्रमाणोंसे क्यों जाना जाय ? वह भी खुदका स्वरूप है तो जाननेके द्वारा जाननेमें आ जायगा। तो उस ज्ञातृव्यापारको जाननेके लिये अन्य प्रमाण क्यों बताये जा रहे हैं ? जैसे प्रमाता है तो वह स्वरूप प्रत्यक्ष है ऐसे ही ज्ञातृव्यापार यदि ज्ञानरूप है तो वह स्वरूप प्रत्यक्ष हो जायगा। उसके लिये अन्य प्रमाण ढूढ़नेकी जरूरत नहीं है। तो ज्ञातृव्यापार बोधरूप तो नहीं रहा। आत्माकी चेष्टा जो कि प्रमाण है वह ज्ञानरूप है तो चिद्रूप आत्मा और अज्ञानरूप व्यापार बनाया जाय यह समझमें नहीं जानता यह तो क्रिया बतायी है, ज्ञाताका व्यापार बताया है और उसे अज्ञानरूप कहते। वह तो ज्ञानरूप ही बनेगा। तो प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान प्रमाण नहीं होता। जब कभी किसी चीजका हम स्मरण करते हैं तो उसमें आलम्बन ज्यादा किसका लगाते हैं। जैसे कोई चीज भजन वगैरह पढ़ रहे हैं और बीचमें कुछ भूल गए तो उस भूलनेके बाद अपने ही दिमागमें जोर लगाते हैं। तो प्रमाणता तो ज्ञानसे ही बनी। जब कुछ पढ़ रहे हैं तो भी विशेष आलम्बन अक्षरों पर नहीं रहता किन्तु ज्ञानपर रहता है, बुद्धिपर रहता है। जहां हम सोचा करते हैं। तो प्रमाणयताके लिए प्रकृति भी यह सिद्ध करती है कि ज्ञानका आलम्बन लेकर ही जानकारीकी दृढ़ता आया करती है। प्रमाण मायने दृढ़ विज्ञान। उस दृढ़ विज्ञान को अज्ञानरूप बनायें यह कहां सम्भव है ?

प्रमाणके प्रकरणमें दार्शनिकोंकी दृष्टि — अथवा ज्ञानरूप प्रमाण है, ठीक है, पर उसकी हम प्रमाणता साबित कर सकें इसके लिए बाहरी पदार्थोंकी ही चर्चा करनी पड़ेगी। इस दृष्टिसे अनेक दार्शनिकोंने बाह्य पदार्थोंपर ही जोर दे डाला है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

किन्तु साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान ही है। न तो कारकसाकल्य प्रमाण है न इन्द्रिय सन्निकर्ष प्रमाण है, न इन्द्रिय व्यापार प्रमाण है और जो चौथी बात आत्मव्यापार रखी है वह भी प्रमाण नहीं है अथवा यह भी निरख सकते हो उस कारक साकल्यमें कि कोई चीज तो साक्षात् प्रमाणका भी कारण है। कारकसाकल्यमें केवल इन्द्रिय, पदार्थ, प्रकाश तक ही नहीं माना है, आत्मा मन यह भी सामिल हैं। इन्द्रिय सन्निकर्षमें प्रमाणता उपचारसे, है क्योंकि ये भी तो कारण बन रहे हैं। इन्द्रियका पदार्थका भिड़ाव हो तो वह प्रमाणका कारण बनता है ना, तो वह उपचारसे प्रमाण है। इन्द्रियका हम व्यापार न करें, आँखें न खोलें, विषयके सम्मुख इन्द्रियां न जायें तो प्रमाण तो नहीं होता। तो ठीक है वे भी उपचारसे प्रमाण हैं। साक्षात् प्रमाण तो ज्ञान होता है। ऐसे ही ज्ञातृव्यापारकी बात चल रही है। ज्ञाताका व्यापार तो प्रमाण है, किन्तु जानन क्रियाका आधारभूत ज्ञानपरिणमनरूप व्यापार प्रमाण है, न कि कोई अज्ञानचेष्टा प्रमाण है। तो ज्ञाताका व्यापार प्रमाण तो मानो, किन्तु वह ज्ञानरूप व्यापार प्रमाण है ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञातृव्यापारके स्वरूपपरिचयके लिये पुनः विकल्प—स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। इसका अर्थ यह है कि ऐसा ज्ञान जो अपने स्वरूपका भी निश्चय कर रहा हो कि मैं ठीक हूँ। जो मैं जान रहा हूँ यह ज्ञान ठीक है ऐसा स्वका भी निश्चय हो रहा हो और जिस पदार्थको जान रहे हैं उस पदार्थके विषयमें भी यह पदार्थ ऐसा ही है इस प्रकारका ज्ञान दृढ़ हो रहा हो जिस एक ज्ञानके द्वारा वह ज्ञान प्रमाण है। इसके प्रतिपक्षमें कुछ दार्शनिकोंने अपना मंतव्य रखा है जिसमेंसे यह ज्ञातृव्यापारका मंतव्य प्रकृतमें चल रहा है। इस सिद्धान्तका यह कथन है कि ज्ञाताका आत्माका ऐसा व्यापार प्रमाण है जो पदार्थको जैसा है तैसा ही प्रकाश करदे किन्तु है स्वयं अज्ञानरूप। तो आत्माका व्यापार प्रमाण है, इस सम्बन्धमें अनेक बातें पूछी गई थीं। अब एक बात और पूछी जा रही है कि तुम्हारा कहना है कि आत्माका व्यापार प्रमाण है। व्यापारका अर्थ है चेष्टा, पुरुषार्थ, क्रिया तरंग, वृत्ति कुछ भी हो। तो वह व्यापार इस आत्माका धर्मीस्वभावरूप है या धर्मस्वभावरूप है। धर्मी उसे कहते हैं जो धर्मका पिण्ड हो, स्वामी हो। और धर्म कहते है उस अनन्त धर्मी पदार्थका कोई एक हिस्सा। जैसे आत्मा तो धर्मी है, ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख आदिक धर्म हैं इसीप्रकार तुम्हारे आत्माका यह व्यापार स्वयं धर्मी है या धर्म है ?

ज्ञातृव्यापारमें धर्मीस्वभावताकी व धर्मस्वभावताकी असिद्धि—यदि ज्ञातृव्यापार धर्मीस्वभावरूप है तो आत्मा भी धर्मी हुआ और आत्माका व्यापार भी धर्मी हुआ। तो जैसे आत्मा धर्मी प्रमाणान्तरोंको गम्य नहीं है अर्थात् वह अज्ञानरूप है और किसी ज्ञानके द्वारा जाना नहीं गया इसी प्रकार व्यापार भी जाना नहीं गया,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अज्ञात रह गया। यदि यह कहो कि ज्ञाताका व्यापार धर्मस्वभाव है, धर्मरूप है तो वह धर्म व्यापार धर्मी ज्ञातासे भिन्न है या अभिन्न है ? या भिन्नाभिन्न है या न भिन्न है न अभिन्न है। यदि आत्म व्यापार रूपधर्म आत्मासे भिन्न है तो सम्बन्ध क्या ? भिन्न तो बहुत सी चीजें हैं। उन चीजोंका किसीका किसीके साथ अटपट जोड़ दो तो नहीं होता। यदि कहो कि वह धर्म अभिन्न है तो अभिन्नके मायने वही आत्मा हुआ, प्रमाणान्तरसे सो गम्य न होना चाहिए अर्थात् अज्ञात रहना चाहिए, असत् होना चाहिए। यदि कहो कि भिन्न अभिन्न दोनों हैं तो जो भिन्न है वह अभिन्न कैसे और जो अभिन्न है वह भिन्न कैसे ? ठंड और गर्मी ये दोनों कभी एक जगह एक साथ रहते भी हैं क्या ? कोई यह कहे कि स्याद्वाद तो मानता है कि भिन्न भी है अभिन्न भी है तो स्याद्वादमें दृष्टियां भी दो हैं। एक दृष्टिसे भिन्न है और एक दृष्टिसे अभिन्न है। यहां नयवाद नहीं है। जो कह दिया वही हठ है तो भिन्नाभिन्न नहीं बनता। यदि कहो कि दोनों नहीं हैं तो अन्योन्यव्यवच्छेद होंगे भिन्न और अभिन्न। तो अभिन्न भिन्नको हटाने वाला है भिन्न अभिन्नको हटाने वाला है। जैसे जीव और अजीव ये दोनों विरुद्ध बातें हैं। जीव और जो जीव नहीं है सो अजीव। कोई कहे कि जीव अजीव दोनों नहीं हैं तो यह कैसे सिद्ध होगा ? दोनों अन्योन्य व्यच्छेदरूप हैं। उनका एक साथ निषेध नहीं हो सकता। तुम एकको निषेध करोगे तो दूसरेका हां बनेगा। इस कारण ज्ञाताका व्यापार ही नहीं सिद्ध होता, प्रमाण क्या कहोगे ?

दार्शनिकतामें सिद्धान्तके पूर्वापर प्रभावकी दृष्टि—यहां दर्शनशास्त्रमें यों समझिये कि जैसे राजनीति लोकनीति होती है। बहुत आगेकी बात सोचते हैं कि इसका किसपर प्रभाव पड़ेगा, इसका क्या असर होगा। ऐसे ही आगे पीछे बहुत सी बातें सोचकर दार्शनिकोंने अपना सिद्धान्त बनाया है। कुछ बातें ऐसी लगती हैं कि ये तो स्पष्ट झूठ हैं, ये क्यों बोल रहे ? जैसे इसी प्रसंगमें यों लग रहा होगा कि आत्माका ऐसा व्यापार जो पदार्थका सही प्रकाश कर दे फिर भी अज्ञानरूप है। चित्तमें तो यों नहीं बैठता, लेकिन इन दार्शनिकोंने कुछ आगा पीछा भी सोचा है, चाहे वह निभे या न निभे। यह सिद्धांत है विशेषवाद। विशेषवादका अर्थ है किसी भी चीजको बारीकीसे सोचना और उस सोचनेमें किसी भी तरह अगर दो बातें मालूम पड़ें तो उसे न्यारा पदार्थ समझ लेना, यह विशेषवादका मूल है। जैसे लोग कहते हैं आत्मामें ज्ञान है, इन दो शब्दोंको सुनकर तो किसी एक वस्तुका बोध होता है और ज्ञान शब्द सुनकर किसी एक ज्यतिका, प्रकाशका, भावका बोध होता है। जब दो शब्दोंके सुननेसे हमें दो तरहका बोध होता तो ये न्यारे—न्यारे हैं यह विशेषवादका सिद्धान्त है। यदि ऐसा न मानो तो दो शब्द क्यों, दो दिमाग क्यों, दो बुद्धि क्यों जगीं ? जिस सम्बन्धमें हमारी बुद्धि भिन्न—भिन्न जगे वह तो भिन्न पदार्थ है यह तो हुआ विशेषवादके दर्शनका रूप। जैसे स्याद्वाद एक सिद्धान्त है ऐसे ही विशेषवाद भी एक सिद्धान्त है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विशेषवादमें हिततामकी कल्पनाकी पद्धति अब यह पूछा जाय कि विशेषवादने ऐसा बारीकी करके एकके दो हिस्से बनाकर विशेषवाद निकालकर फायदा क्या उठाया ? उनका फायदा सुनो। उनका सिद्धान्त है कि जीव सब मुक्त होना चाहते हैं और मोक्ष-प्रिय है और मोक्षमें तरङ्ग विकल्प कल्पनाएँ कुछ नहीं चलना चाहिए। अत्यन्त केवल अवस्थाका नाम मोक्ष है और यहां हम लोगोंकी केवल अवस्था है नहीं, दूसरी दूसरी बहुत सी चीजें लगी हैं, बुद्धि लगी है, यह भी आत्माके पीछे पड़ गई, इस बुद्धिने आत्माको बहुत बरबाद कर दिया। न बुद्धि होती तो दुःख काहेका, विकल्प क्यों होता ? ये जो खम्भा चटाई वगैरह हैं ये अच्छे हैं। चाहे देशमें लड़ाई हो चाहे बम गिरें, जो चाहे हो पर ये कभी दुखी होते हैं क्या ? और, ये जो देशवासी लोग हैं वे क्यों सोचकर दुखी होते हैं। क्यों दुखी होते हैं ? ये मकान, पत्थर भी तो इसी देशके वासी हैं, ये क्यों नहीं दुखी होते ? इनमें बुद्धि नहीं लगी है, मनुष्योंको बुद्धि लगी है सो सोचते हैं और दुखी होते हैं। यह बुद्धि जड़से मिट जाय तो जीवका मोक्ष हो जाय। सुखदुःख मिट जायें, इच्छा द्वेष मिट जायें, पुण्यपाप मिट जायें तो मोक्ष होता है सारी चेष्टायें समाप्त होजायें तो मोक्ष होता है, अब यह सिद्धान्त आया।

विशेषवादके एकान्तमें स्वरूपकी असिद्धि—भैया ! सुननेमें तो जरा अच्छा भी लगता है कि विशेषवाद ठीक तो कह रहा हैं, गलत क्या हुआ ? पर गलत यों हुआ कि वस्तुका एकरूप मिटा जा रहा है। सुख—दुःख इच्छा द्वेष पे स्वरूप नहीं हैं आत्माके। ये मिट जायें यह तो हम भी चाहते हैं, किन्तु बुद्धि शब्दसे उन्होंने समस्त ज्ञानस्वभावका ही ग्रहण कर लिया कि ज्ञान न रहे आत्मामें तो आत्माका मोक्ष होता है, किन्तु ज्ञान है आत्माका स्वरूप। प्रत्येक पदार्थ अपना स्वभाव तो रखते ही हैं। ज्ञान भी मिट गया, फिर जरा सोचो तो सही कि फिर आत्माका स्वरूप रहा क्या ? इस मर्मसे परिचित न होनेके कारण ही यहां बुद्धिके विनाश, ज्ञानके विनाशका नाम मोक्ष कहा गया है। कौनसा मर्म अपरिचित था ? आत्मा सहज ज्ञान सामान्यस्वभावी है और उपाधि आश्रय कारण पाकर उस ज्ञानस्वभावका परिणाम संसारमें ऐसा साकार प्रकट हुआ है वह है विशेष विशेष ज्ञान। वह विशेष ज्ञान ही विशेषवादमें सब कुछ मान लिया गया है, इसके अतिरिक्त उसका स्रोतभूत, आधारभूत ज्ञानसामान्य से यह सुनकी दृष्टिमें नहीं है, विशेषवादी हैं ना ? सामान्यको यहां नहीं माना। आत्माका ज्ञान सामान्य स्वरूप है और वह गुण है, अभिन्न धर्म है आत्माका स्वरूप है, यह विशेषवादमें माना नहीं गया। सामान्यका अभाव इस प्रकारसे है वस्तुके स्वरूपमें; लेकिन सामान्यको भी उन्होंने विशेष करके माना। वह भी एक जुदा पदार्थ है। जिसकी वजहसे १०० गायें खड़ी हैं और उन सबमें गौ सामान्यका बोध हो रहा है तो वह गौ सामान्य बिल्कुल अलग चीज है और वह एक है, व्यापक है। स्याद्वादमें तो एक वस्तु है उस अभेदरूपसे देखते हैं तो सामन्य और भेद दृष्टिसे देखते हैं तो उसका विशेषदृष्टि होती है, किन्तु ऐसा नहीं है कि सामान्य सर्वव्यापक है और एक है

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो इस सिद्धांतके अनुसार आत्मामें ज्ञानस्वभाव नहीं मौजूद है ज्ञानका समवाय होता है तब आत्मा ज्ञानी बनता है। और उस आत्माका व्यापार प्रमाण है तो व्यापार भी अज्ञानरूप हुआ।

ज्ञातृव्यापारको कारकों द्वारा जन्य माननेपर आपत्ति – ज्ञातृव्यापारके सम्बन्धमें यह प्रश्न किया गया था कि आत्माका यह व्यापार किन्हीं पदार्थोंसे उत्पन्न किया जाता है या नहीं ? यह प्रश्न कल हुआ था। तो उत्पन्न नहीं किया जाता इसका बहुत विकल्पोंसे निराकरण हुआ। अब उत्पन्न करनेमें लगे हुए जो कारक हैं वे कारक भी क्या अपना काम करने में अन्य कारकोंकी अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि वे भी अन्य कारकोंकी अपेक्षा रखते हैं तो अनवस्था दोष हो गया। वे भी किसी अन्यकी अपेक्षा रखेंगे, तो कहीं उसकी समाप्ति ही नहीं होगी। यदि कहो कि वह कारकसमुदाय किसीके भी व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता तो यों ही कारक ही पदार्थ का प्रकाश करदे तब फिर बीचमें ज्ञातृव्यापार क्यों माना जा रहा है ?

तत्त्वनिर्णयके लिये प्रमाणपरीक्षाकी आवश्यकता –देखिये ! जब तक प्रमाणकी परीक्षा नहीं बन जायगी कि कैसा ज्ञान प्रमाण होता है तब तक हम कुछ निर्णय ही नहीं कर सकते हैं। यों साधारण निरख तो लोगोंके चल ही रही है, किन्तु जब सूक्ष्म तत्त्वका विवेचन किया जाय और उसमें यह विवेचन सही है यह सही नहीं है उसकी बारीकी न ज्ञात की जाय, प्रमाणकी खूब परीक्षा नहीं कर पायें, नहीं समझ सकें कि ज्ञान ऐसा होना चाहिए, निर्दोष हो सदोष न हो तब तक हम तत्त्वका निर्णय नहीं कर सकते। मोटी बातका निर्णय करनेके लिए मोटी बुद्धि काम दे जायगी मगर सूक्ष्मतत्त्वका निर्णय करनेके लिए तो सूक्ष्म परीक्षा चाहिये। और उस परीक्षामें मूलमें इस ज्ञानकी ही परीक्षा पहिले चाहिए।

दार्शनिक क्षेत्रमें धारणाओंका खण्डन – कोई भी पुरुष किसी वस्तु का खण्डन नहीं किया करता, किन्तु मानने वालेके विचारका खण्डन किया करता है कि तुम्हारा विचार तुम्हारी दृष्टिमें सही है किन्तु तुम्हारा विचार गलत है। जैसे किसी पुरुषने इस चस्माघरको घड़ी कह दिया तो लोकभाषामें लोक क्या कहते हैं ? यही कहते हैं कि तुम इस पदार्थका खण्डन करनेके लिये कहते हो कि यह घड़ी नहीं है, चस्माघर है। इसपर जोर लगाते हो। तो यह बतावो कि यहां पदार्थका खण्डन कर रहे हैं या इस चस्माके बारेमें पुरुषने जो विचार बनाया उस विचारका खण्डन कर रहे हैं ? विचारका खण्डन होता है पदार्थका खण्डन नहीं होता। एक बात सामने रख दें; जो ईश्वरको सृष्टिकर्ता नहीं मानते उनके सामने। क्या, कि यह बतावो ईश्वर सृष्टि कर्ता है या नहीं ? ईश्वर सृष्टिकर्ता यदि है तो तुम खण्डन क्या करते और ईश्वर सृष्टि कर्ता नहीं है तो किसका खण्डन करते ? कहीं असत्पर भी शस्त्र चलता है क्या ? जब सृष्टिकर्ता नहीं है तो तुम खण्डन किसका करने जा रहे हो ? तो स्याद्वादका यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उत्तर होगा कि हम किसी पदार्थका खण्डन मण्डन नहीं करते किन्तु उस सम्बन्धमें जो तुम्हारी धारणा है उस धारणाका खण्डन कर रहे हैं, तुम्हारा ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान सम्यक् नहीं है। विचारका खण्डन है, इस पदार्थका खण्डन नहीं है। यह तो दार्शनिकक्षेत्रकी बात है।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें विभावोंका खण्डन—अध्यात्मक्षेत्रमें देखिये वहांपर भी अंतरङ्गको ही छुवा गया है। ज्ञानी और अज्ञानीका जहां विश्लेषण किया गया तो यही तो किया गया कि अज्ञानीका तो मंतव्य ऐसा है कि मेरा पदार्थ शत्रु है, दूसरा मेरा बिगाड़ करता है दूसरा जीव, दूसरा पदार्थ यह मेरा बिगाड़ किया करता है और ज्ञानीका यह मंतव्य है कि दूसरा पदार्थ मेरा शत्रु नहीं हैं, मेरा बिगाड़ करने वाला नहीं है, किन्तु मेरा ही विभाव परिणाम मेरा शत्रु है, और इसी बुनियादपर लोकमें सिंह और कुत्ता इन दोनोंके अन्तरकी प्रसिद्धि हुई है। देखिये, कुत्ता कितना उपकारी जीव है, आप रोटीके दो टुकड़े खिलादें तो वह आपका रात दिन भक्त रहता है। और वह भी पूछ हिलाकर, प्रेम दिखाकर, विनय दिखाकर आपकी रोटीके दो टुकड़े खाता है, आज्ञाकारी रहे, विनयशील रहे, साधक रहे आपकी उन रोटीके दो टुकड़ोंपर। तो कुत्ता बड़ा उपकारी जानवर होता है, और सिंह कितना अनुपकारी जीव है। सिंह दिख जाय तो यहाँ भगदड़ मच जाय, पर किसी पुरुषको यदि यह उपमा दे दी जाय कि ये तो बड़े उपकारी हैं, गरीबोंका बड़ा ख्याल करते हैं ये तो साहब कुत्तेके समान हैं, तो यह बात यद्यपि अच्छी कही गई है, पर वह सुनने वाला बुरा मान जायगा। और यदि यह उपमा दे दी जाय कि ये साहब तो सिंहके समान हैं तो कहा तो यह गया कि यह साहब तो अनुपकारी हैं, दुष्ट है पर वह सुनने वाला इस उपमाको सुनकर खुश होता है। तो सिंहकी उपमा क्यों अच्छी लगती है और कुत्तेकी उपमा क्यों बुरी लगती ? वहां ज्ञानी और अज्ञानीके आशय जैसा अन्तर है। कुत्तेको लाठी मारो तो वह लाठीको चबाता है, उसके यह समझ बनी है कि मेरा शत्रु यह लाठी है, वह आदमीको नही चबाता, और किसी सिंहको कोई लाठी मारे तो वह लाठीपर नहीं आक्रमण करता हैं, सीधे उस मनुष्यपर ही आक्रमण करता है, क्योंकि उसे सच्चा बोध है कि मेरा शत्रु तो यह मनुष्य है। इसी तरह ज्ञानी पुरुष सही जानता है कि मेरा शत्रु कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, मेरा शत्रु तो मेरी कल्पना है, मेरा विभाव है, मेरा शत्रु तो मेरी कल्पना है, मेरा विभाव है। और अज्ञानी पुरुष किसी दूसरेको अपना शत्रु समझ लेता है। तो उन कल्पनाओं और विभावोंको मेटने का यत्न करना है। यही है तत्त्वज्ञानका कार्य। तो यहां भी दार्शनिक क्षेत्रमें जो खण्डन चलता है वह दूसरेके विचारोंका खण्डन चलता है, पदार्थका खण्डन नहीं चलता।

आत्मव्यापारको कारकोंसे जन्य माननेपर आपत्ति—पदार्थका पदार्थके रूपसे प्रकाश करने वाला आत्मव्यापार अज्ञानरूप होकर भी प्रमाण है तो वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

व्यापार क्या किन्हीं कारकोंसे उत्पन्न होता है ? जैसे इन्द्रिय हैं, मन है आदिक पदार्थों के कारणसे उत्पन्न होता है, तो आत्मव्यापारको कारकोंके व्यापारकी अपेक्षा रही और कारकोंके व्यापारको भी किसी अन्यके व्यापारकी अपेक्षा है ना, तब तक दूसरेके व्यापारकी अपेक्षामें ही ये अपनी शक्ति खो देंगे तो पदार्थका प्रकाश कब होगा ? यदि व्यापारान्तरकी अपेक्षा न रखकर यह ज्ञातृव्यापारको उत्पन्न करदे तो इन कारकोंमें ही क्यों न ऐसी शक्ति मान लीजिए कि ये ही सीधे किसीकी अपेक्षा बिना पदार्थका प्रकाश कर दें।

असिद्ध तत्त्वमें अनेक पर्यनुयोगोंका अवकाश— यदि अन्य व्यापारकी अपेक्षा बिना अपने व्यापारमें कोई समर्थ होते हैं तो अन्य पदार्थ भी उसी कामको करदें और न समर्थ होते तो प्रकृत पदार्थ भी अपना कार्य न करें, यह आपत्ति रखी जानेपर पूर्वपक्षकार एक विवाद उपस्थित करते हैं कि इस तरहके प्रश्नोंसे तो सर्व पदार्थोंका स्वभाव न रहेगा। हम यह कहने लगें कि अग्निमें जलानेका स्वभाव है कि नहीं, यदि अग्निमें जलानेका स्वभाव है तो वही स्वभाव आकाशमें भी आ जाय अन्यथा अग्निमें भी जलानेका स्वभाव न रहे। ये तो सब अटपट बातें कही जा सकती है। तो समाधानकार उत्तर देते हैं कि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध है उसमें तो ऐसे प्रश्न नहीं चल सकते। किन्तु अज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार तो सिद्ध नहीं है वहाँ ऐसे पर्यनुयोग होते हीं हैं। और, जब ज्ञातृव्यापारमें ही स्वभाव नहीं माना पदार्थोंके प्रकाश करनेका, किन्तु अन्य कारकोंकी अपेक्षा रखकर प्रकाश होता है तो वहाँ यह निर्णय है कि न ज्ञातृव्यापार अर्थका प्रकाश कर सकेगा और न कारक भी अर्थका प्रकाश कर सकेंगे। प्रयोजन यह है कि आत्माका वह व्यापार जो अचेतन है, अज्ञानरूप है, पदार्थका प्रकाश करदे यह सम्भव नहीं है तो आत्मव्यापारका स्वरूप न प्रत्यक्षसे सिद्ध हो सका, न अनुमानसे सिद्ध हो सका और न अन्य युक्तियोंसे सिद्ध हो सका।

अर्थापत्तिसे ज्ञातृव्यापारको सिद्ध करनेका उपक्रम— इतनेपर भी पूर्व पक्षकार अर्थापत्तिसे आत्मव्यापारको सिद्ध करना चाहते हैं। एक प्रमाण उन्होंने अर्थापत्ति माना। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, अनुमान प्रमाण होता है ऐसा ही उनका एक अर्थापत्तिप्रमाण है। अर्थापत्तिका अर्थ है कि जिसके होनेपर जो बात हो उसको बताकर साध्यको सिद्ध करना, अर्थात् ज्ञाताका व्यापार होनेपर पदार्थका प्रतिभास होता है इस कारण ज्ञातृव्यापार प्रमाण है। जैसे ये खम्भे, किवाड़, काठ इनके होनेपर तो पदार्थका प्रतिभास नहीं होता, किन्तु आत्माका व्यापार होनेपर पदार्थका प्रतिभास होता है इस कारण ज्ञातृव्यापार प्रमाण है यह अर्थापत्तिसे सिद्ध होता है। इस विषयमें अर्थापत्तिके सम्बन्धमें जब विचार किया जायगा तो अविनाभाव ही बनेगा लेकिन ये पूर्वपक्षकार अर्थापत्तिको अनुमानसे अलग प्रमाण मानते हैं, किन्तु अविनाभावका अनुमानसे सम्बन्ध है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अर्थापत्तिसे भी ज्ञातृव्यापारकी असिद्धि— तो अर्थापत्तिसे ज्ञातृव्यापारको सिद्ध करने वालोंसे पूछा रहा है कि आत्माका व्यापार होनेपर अर्थका प्रकाश होता है ? तो अर्थका प्रकाश आत्मव्यापारसे भिन्न चीज है या अभिन्न चीज है ? जो पदार्थ का प्रकाश हुआ. वह ज्ञातृव्यापारसे जुदी चीज है या अभिन्न चीज है ? इस प्रश्नको समझनेके लिए पहिले स्याद्वादका सिद्धान्त सुनिये। पदार्थविषयक ज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न है, इसके उत्तरमें पहिले सोच लीजिए। अर्थप्रकाशका आत्मासे तादात्मय होनेसे वह आत्मासे अभिन्न है और संज्ञा व्यपदेश नाम धर्म धर्मी आदिकी अपेक्षा अर्थप्रकाश आत्मासे भिन्न है, यों कथंचित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है। स्याद्वादकी दृष्टि नहीं रखने वालोंसे यह प्रश्न किया जा रहा है कि अर्थका प्रकाश आत्मव्यापारसे जुदा है या एक ही चीज है ? यदि एक ही चीज है तो अर्थप्रकाश और आत्मा एक ही बात हुई। फिर तो जैसे आत्मा सदा है तो अर्थप्रकाश भी सदा रहेगा। फिर न कोई सोया हुआ कहलाया न जगा हुआ कहलाया सभी जगे हुए कहलाये। न कोई पागल कहलाया न कोई स्वस्थ कहलाया। सभी स्वस्थ कहलाये। और सबको सबका ज्ञान हो जाना चाहिए। यदि अर्थप्रकाशको व्यापारसे भिन्न कहते तो जब भिन्न हो गया यो अर्थप्रकाशका आत्मासे सम्बन्ध क्या रहा ? फिर प्रमाण किसको बताते हो ? जब कोई आकार ही नहीं रहा, सम्बन्ध ही नहीं रहा फिर प्रमाण क्या चीज है ? यदि उपकार मानते हो, किसीके द्वारा उपकार हुआ तो अनवस्था दोष हो जायगा, वह उपकार भी किसी ओरसे हुआ इस कारण अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापारकी सिद्धि नहीं होती है।

अर्थापत्तिसे साध्यसिद्धिका अनियम—अब और भी सुनिये। अर्थापत्तिसे इस ज्ञातृव्यापारकी कल्पना करते हो तो अन्यथानुत्पत्तिसे अनिश्चित ही ज्ञातृव्यापार को मानते हो या अन्यथानुपपत्तिसे निश्चित व्यापारको मानते हो। अर्थापत्ति और अन्यथानुत्पत्तिमें विधि और निषेधका क्या अन्तर है। जिसके होनेपर जो हो उसको बताकर साध्यकी सिद्धि करना अर्थापत्ति है और जिसके बिना जो न हो उसे बताकर साध्यकी सिद्धि करना अन्यथानुत्पत्ति है। अर्थापत्तिसे अन्यथानुत्पत्ति जोरदार साधन माना गया है। तो अन्यथानुत्पत्तिसे तो यदि ज्ञातृव्यापार निश्चित है तो इसीके मायने तो अनुमान है क्योंकि दृष्टान्तमें अविनाभाव हो या दार्ष्टान्तमें अविनाभाव हो उसीसे तो साध्यकी सिद्धि होती है, तब अर्थापत्ति अलग प्रमाण नहीं रहा, प्रमाण संख्याका विघात हो गया। उसमें यदि अन्यथानुत्पत्ति निश्चित नहीं है तो जिस चाहे चीजसे जो चाहे चीज सिद्ध करलो। कोई पूछे देखना जरा मंदिरमें पंडित जी बैठे हैं या नहीं, और वह कहदे कि हाँ बैठे हैं। कैसे जाना कि मंदिरमें बैठे हैं ? भींट सफेद है इससे जाना। तो यह भी कोई बात है क्या ? कुछसे कुछ कह देवे। अन्यथानुत्पत्ति जहाँ नहीं है और उससे फिर साध्यकी सिद्धि मानें तो जो चाहे सिद्ध करें सब पागलपनकी चेष्टायें होंगी। तो किसी भी प्रमाणसे चैतन्य स्वभावी आत्मव्यापारकी प्रतीति नहीं होती फिर वह अर्थका क्या प्रकाश कर सकेगा और कैसे प्रमाण बनेगा ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अस्वसंवेदकज्ञानरूप ज्ञातृव्यापारके प्रामाण्यकी असिद्धि—भैया ! बात तो कुछ भलीसी थी कि आत्माकी चेष्टा प्रमाण है लेकिन वह चेष्टा अज्ञानरूप मान लें वह कैसे प्रमाण हो सकता है। इतनी बात विचारकर एक दार्शनिक यह कहता है कि ज्ञानरूप ज्ञाताका व्यापार तो प्रमाण हो जायगा ना ? आत्माका जो ज्ञानरूप प्रवर्तन है, ज्ञानस्वभावी आत्माका जो व्यापार है वह पदार्थका सही सही प्रकाशक होनेसे प्रमाणरूप हो जाय, यह बात तो ठीक है लेकिन उस ज्ञानस्वभावी आत्मव्यापार को स्वसम्वेदी माने तो प्रमाण है। यह दार्शनिक आत्माको ज्ञानस्वभावी तो मान रहा है और आत्मव्यापारको पदार्थका प्रकाशक मान रहा है, किन्तु ज्ञानको परोक्ष मान रहा है। जो ज्ञान हुआ है वह ज्ञान ज्ञानसे समझमें न आये तो ज्ञान पदार्थको कैसे समझादे। क्या कोई दीपक ऐसा देखा कि सारे पदार्थोंको तो प्रकाशित करदे और दीपक खुद प्रकाशित न हो ? दीपकको ढूढ़नेके लिये दूसरे दीपककी जरूरत पड़ती है क्या ? अथवा जिस कमरेमें बिजलीका राट जल रहा है उसे कोई कहे कि देखना कमरेमें राट जल रही है या नहीं तो उसे देखनेके लिये दूसरा बल्ब जलानेकी आवश्यकता है क्या ? ऐसे ही आत्मामें ज्ञान तो जगा पर पदार्थोंके समझनेके लिये, मगर उस ज्ञानका ज्ञान कभी भी नहीं बन पाता, वह ज्ञान अपने आपको जान ले यह उस का स्वभाव ज्ञाताके व्यापारको भी प्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि जो सर्वथा परोक्ष ज्ञानस्वभावी है वह तो कहने मात्रकी चीज है, वह असत् है।

ज्ञानकी स्वसंवेदकता—जितने भी ज्ञान होते हैं सब स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान होते हैं। चाहे हम उस तरहसे सोंचें या न सोचें। हमने यदि जाना कि यह चौकी है तो यह ज्ञान प्रमाण है कब ? जब यह चौकी है यह भी निर्णय हो और भीतर यह भी निर्णय हो कि मेरा ज्ञान बिल्कुल पक्का है। यह चौकी है, यह हमारा ज्ञान सच्चा है, और उसका पक्का निर्णय भी है ये दो बातें प्रत्येक ज्ञानमें एक साथ लगी रहती हैं छद्मस्थके भी। यद्यपि लौकिक जन पदार्थोंपर ही दृष्टि होनेके कारण पदार्थ–पदार्थका ही निर्णय विकल्प माना करते हैं, वे बहुत कम इस ओर दृष्टि देते हैं कि मेरा ज्ञान सही है कि नहीं। जब कभी किसी पदार्थके ज्ञानमें संशय होता है तब इसका उपयोग करते हैं मैंने यह जाना है, यह सही जाना या नहीं जाना, उस समय तो ज्ञानके ज्ञानका प्रयास लोग करते हैं, मगर साधारणतया अनेक वस्तुयें विदित होती रहती हैं, वहाँ ज्ञान मेरा सही है या नहीं इसका विचार नहीं रखते किन्तु ज्ञान सही है इस तरह के विश्वासमें जाननेका निशंक व्यवहार होता रहता है ज्ञानमें। कभी सुन नेके बाद भी ज्ञानसे निर्णय किया तो वह श्रुततत्त्वका निर्णय किया। श्रुततत्त्वका निर्णय करने वाला यह ज्ञान भी मेरा सही है ऐसा विचार लोग कम करते हैं मगर दृढता उसकी अवश्य है; तभी पदार्थका ज्ञान सही होता है।

ज्ञानमें स्वपरप्रकाशक स्वभावता—ज्ञानमें दो प्रणालीका स्वभाव है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वयंका प्रकाश करे और पदार्थका प्रकाश करे। इस प्रकार स्वपरका प्रकाश करना ही ज्ञानका स्वभाव है ऐसा ज्ञान प्रमाण नहीं है जो ज्ञान दूसरेका तो प्रकाश करे और खुदका प्रकाश न कर सके। जो यह मंतव्य सोचा है इसमें कुछ कुछ लोक प्रणालीमें लगता भी ऐसा है। जब संशय ज्ञान होता है ना तो उस समय मेरा यह ज्ञान सही है या नहीं ऐसा संशय होनेपर उस ज्ञानकी समीचीनताका निर्णय करें तो इसपर लगता है कि हम एक नया ज्ञान पैदा करके जान रहे हैं। वैसे तो लगता है सच, पर जिस ज्ञानमें संशय है या नहीं है उसमें भी फेर नहीं है। तो जो स्वपर व्यवसायात्मक ज्ञान है वही प्रमाण है।

प्रमाणस्वरूपपर विचार—परीक्षामुख सूत्रमें यह प्रथम सूत्र चल रहा है, जिसमें यह सिद्धान्त रखा कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रसंगमें अभी प्रमाणके स्वरूपमें अनेक वाद विवाद रखे गए थे उनका वर्णन किया गया है इस सूत्रमें स्व, अपूर्वार्थ, व्यवसायात्मक, ज्ञान, और प्रमाण इन ५ शब्दोंका विश्लेषण चल रहा है। प्रमाण कौन हुआ करता है इस निर्णयके लिये पदार्थके स्वरूपका विवरण चला। अब आगे ज्ञानका विवरण चलेगा, फिर व्यवसायात्मकका, फिर अपूर्व अर्थका और फिर स्वका इनमें पर विचार होगा। कभी अनुलोम विचार होता कभी प्रतिलोम विचार होता अर्थात् कभी प्रारम्भसे सिलसिलेवार विचार होता और कभी अन्तसे सिलसिलेवार विचार किया जाता है। कभी किसी निबंधको जाँच रहे हों और उस निबंधमें कुछ पैरा बनाते हों तो कभी बुद्धि इस तरह चलती कि प्रारम्भसे ही बना लें और कभी बुद्धि इस तरह चलती कि अन्तसे पैरा बनाना शुरू करें। अन्तसे पैरा बनाया तो यह हुआ प्रतिलोम कार्य और शुरुसे ही अनुच्छेद बनाते गए तो यह हुआ अनुलोम कार्य। तो प्रमाणका जो स्वरूप कहा है स्वापूर्वार्थव्यवसायकं ज्ञानं प्रमाणं। इसमें प्रत्येक शब्दोंपर प्रतिलोम पद्धतिसे विचार किया जा रहा है। तो अभी प्रमाण शब्दपर विचार चला।

कारकसाकल्य व सन्निकर्षका सिद्धान्त—इस प्रमाण स्वरूपके विरुद्ध सर्वप्रथम तो कारक साकल्यवाद रखा गया। ज्ञान प्रमाण नहीं है, किन्तु समस्त कारकोंका समूह जुट जाय वह प्रमाण है। इसमें एक मोटी दृष्टि रखी कि जैसे किसी घटनाके सिद्ध करनेमें अनेक दस्तावेज अनेक गवाह और अनेक प्रमाण एकदम सामने रख देते हैं कि लो साहब ! यह है तुम्हारा प्रमाण। इसीतरह हम जो अर्थ प्रतिभास करते हैं उस प्रतिभासमें जितने साधन साधक होते हैं उन साधनोंको रख रहे हैं। इन कारकोंका समूह प्रमाण है लेकिन ये साधकतम नहीं होते। प्रमाणका साधकतम ज्ञान ही है। इसके बाद फिर पदार्थकी बात छेड़ दी, फिर इन्द्रिय और पदार्थका जो सम्मान है वह प्रमाण है ऐसी बात रखे इसका नाम है सन्निकर्ष। तो सन्निकर्षमें भी प्रमाणताका निराकरण किया। सन्निकर्ष होनेपर भी जो ज्ञान जगा वह प्रमाण है न कि इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्रमाण है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापारका सिद्धान्त— सन्निकर्षके बाद रखा इन्द्रिय वृत्ति। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध तो नहीं किन्तु इंद्रियका खुलना बढ़ना आदि यह प्रमाण है। ये कुछ भीतरकी ओर आते जा रहे हैं। कारक साकल्यमें तो एक दम बाहर बाहर उनका बोलना था इन्द्रिय सन्निकर्षमें कुछ उसके भीतर आये और इंद्रियवृत्तिमें पदार्थको भी छोड़ दिया, केवल इन्द्रियके व्यापार तक आ गए और अब इन चार प्रमाणोंमें इन्द्रियको भी छोड़कर आत्माके व्यापार तक आये। यहाँ और भीतर आये। लेकिन सबके आशयमें अज्ञानरूपता बन रही है। ज्ञानको प्रमाण नहीं माना और अब पाँचवें प्रमाणमें ज्ञानको भी प्रमाण माना, जो परोक्षरूप ज्ञान है वह है प्रमाण, ऐसे ज्ञानको प्रमाण कहा है। वह ज्ञान खुदको ज्ञान नहीं कर सकता। ज्ञानका ज्ञान करनेके लिए और ज्ञानकी जरूरत होती है ऐसे ज्ञानान्तरवेद्य ज्ञानस्वभावी आत्माके व्यापार को प्रमाण कहा है। वह भी युक्त नहीं कहा।

प्रमाणमें साधकतम और उपचार यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपमें जितने भी पक्ष रखे गए वे सब उपचारसे तो प्रमाण माने जा सकते हैं। चूँकि ज्ञानके बनने में वे सब बातें आती तो हैं, पदार्थ भी जुटते हैं, इन्द्रिय और पदार्थका झुकाव भी होता है और इन्द्रियमें व्यापार भी होता है, आत्मामें ज्ञानके लिए चेष्टा भी जगती है, तो ये सब प्रमाण उपचारमात्रसे तो हो सकते हैं किन्तु साधकतमरूप नहीं हैं अर्थप्रकाशमें साधकतम ज्ञान है और वही प्रमाण है। इस प्रकार सिद्ध करनेके पश्चात् अब द्वितीयसूत्रमें "ज्ञान" इस शब्दपर विचार किया जायगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com